परमात्मप्रकाश

अनुक्रमणिका

1-001) मंगलाचरण
1-001) सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार
1-003) सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार
1-003) सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार
1-005) सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार
1-005) अरिहंत परमेष्ठी को नमस्कार
1-007) आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी को नमस्कार
1-007) प्रभाकरभट्ट द्वारा विनती
1-009) विनती
1-009) परमात्मा के कथन की विनती
1-011) तीन प्रकार के आत्मा को कहने की प्रतिज्ञा
1-011) तीन प्रकार के आत्मा को जानने का प्रयोजन
1-013) बहिरात्मा
1-013) अन्तरात्मा
1-015) परमात्मा
1-015) ध्येय
1-017) लक्ष्य के लक्षण
1-017) शान्त और शिव
1-019-021) निरन्जन
1-019-021) परमात्मा - ध्यान के साधन नहीं
1-023) परमात्मा - ज्ञान का साधन नहीं
1-023) परमात्मा - अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यमयी
1-025) परमात्मा - शरीर रहित लोक के शिखर पर स्थित
1-025) परमात्मा - शरीर में स्थित
1-027) परमात्मा - अंतर-दृष्टि के प्रेरणा
1-027) परमात्मा शारीरिक और मानसिक सुख-दुःख रहित
1-029) [परमात्मा - देह में रहते हुए भी स्वभाव में स्थित
1-029) भेद-ज्ञान की प्रेरणा
1-031) आत्मा का लक्षण
1-031) ध्यान की विधि और उसका फल
1-033) देह में ही परमात्मा का निवास
1-033) परमात्मा का एक अद्भुत् लक्षण
1-035) परमात्मा - समभाव द्वारा परम आनन्द की प्राप्ति
1-035) आत्मा का परम आत्मा स्वरूप
1-037) पूर्व कथन की पुष्टि
1-037) परमात्मा - केवलज्ञान में स्वयं प्रतिभासित
1-039) परमात्मा - ध्यान का ध्येय
1-039) परमात्मा - संसार को उपजाता है
1-041) परमात्मा - संसार में रहते हुए भी संसार से परे
1-041) परमात्मा उत्कृष्ट समाधि / तप द्वारा ही जाना जाता है
1-043) परमात्मा - उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त
1-043) शरीर और आत्मा के दृढ़ सम्बन्ध
1-045) देह से आत्मा का विशिष्ट महत्व
1-045) परमात्मा का वीतराग स्वरूप
1-047) परमात्मा के ज्ञान के स्थान का कथन
1-047) कर्म बंधन से मुक्त परमात्मा का स्वरूप

1-049) कर्म बंधन से मुक्त परमात्मा का स्वरूप
1-049) आत्मा क्या है
1-051) आत्मा का स्वरूप
1-051) आत्मा का सर्वव्यापक स्वरूप
1-053) आत्मा का जड स्वरूप
1-053) आत्मा का चरम शरीर प्रमाणरूप स्वरूप
1-055) आत्मा के शून्य स्वरूप का कथन
1-055) आत्मा के लक्षण
1-057) आत्मा के लक्षण का स्पष्टीकरण
1-057) आत्मा द्रव्य और उसके गुण
1-059) आत्मा और कर्म का परष्पर सम्बन्ध
1-059) सभी जीवों का प्राण कर्म
1-061) कर्म के कारण जीव को स्वभाव-लाभ नहीं
1-061) विषय-कषायों में लिप्तता से कर्म-बंध
1-063) इन्द्रियाँ, मन, समस्त विभाव, दुःख कर्म-जनित
1-063) परमार्थ से दुःख-सुख कर्म जनित
1-065-1) जिन्वचन को नहीं मानने का परिणाम
1-065-1) परमार्थ से बन्ध और मोक्ष कर्मजनित
1-066) कर्म द्वारा ही जीव के लोक में भ्रमण
1-066) द्रव्य-रूप परिवर्तित नहीं होता
1-068) जीव के जन्म-मरण बंध-मोक्ष नहीं
1-068) जीव के जन्म-मरण-रोग, इन्द्रियाँ, वर्ण नहीं
1-070) जन्म-बुढापा-मरण, रोग, वर्ण देह के
1-070) जीव को अमर जानकर भय-मुक्त हो
1-072) शरीर से ममत्व त्यागकर आत्मा को ध्या
1-072) पर-भाव और पर द्रव्य जीव स्वभाव से भिन्न
1-074) ज्ञानमयी भाव को छोड़कर अन्य सभी भाव को त्याग
1-074) रत्नत्रयमयी आत्मा का ध्यान कर
1-076) सम्यग्दृष्टि
1-076) मिथ्यादृष्टि
1-078) कर्म बलवान हैं
1-078) मिथ्यात्वी का लक्षण
1-080) मिथ्यात्वी की मान्यता
1-080) और भी
1-082) और भी
1-082) और भी
1-084) अज्ञान ही पाप
1-084) सम्यक्त्व की प्राप्ति
1-086) आत्मा स्पर्श या वर्ण नहीं
1-086) आत्मा के वर्ण या लिंग नहीं
1-088) आत्मा के वेष नहीं
1-088) आत्मा गुरु-शिष्यादिक भी नहीं
1-090) आत्मा मनुष्य-देव आदि नहीं
1-090) आत्मा पंडित मूर्ख आदि नहीं
1-092) आत्मा पुण्य-पापादि नहीं
1-092) आत्मा क्या है?
1-094) आत्मा ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र
1-094) आत्मध्यान किसी तीर्थ, गुरु, देव से भी उत्कृष्ट
1-096) आत्मा ही दर्शन
1-096) आत्मध्यान से क्षणमात्र में मुक्ति
1-098) आत्म-ज्ञान बिना ज्ञान तप निष्फल
1-098) आत्मज्ञान से केवलज्ञान
1-100) उसी को दृढ़ करते हैं

1-100) केवलज्ञान का स्वभाव
1-102) उदाहरण
1-102) उपसंहार
1-104) प्रश्न
1-104) आत्मा का संस्थान
1-106) पर भावों को छोड़
1-106) आत्मा ज्ञान गोचर
1-108) परलोक -- आत्मा से परमात्मा
1-108) परलोक -- अपना स्वरूप जानना
1-110) परलोक -- ध्यान का ध्येय
1-110) जैसी मति वैसी गति
1-112) पर-द्रव्य को मत देख
1-112) पर-द्रव्य
1-114) ध्यान की सामर्थ्य
1-114) चिंता रहित होकर देख
1-116) आत्म-ध्यान के बिना सुख सम्भव नहीं
1-116) आत्म-ध्यानी के सुख के सामान सुख नहीं
1-118) आत्म-ध्यानी को भगवान जैसा सुख
1-118) मोक्ष अपने आप में
1-120) राग-रंजित को मोक्ष-सुख नहीं
1-120) राग और सुख एक साथ नहीं रह सकते
1-122) भगवान आत्मा अनादि से
1-122) वन्द्य-वंदक भाव रहित
1-123-B) मन पर लगाम द्वारा मुक्ति प्राप्ति
1-123-B) समभाव द्वारा सुख की प्राप्ति
2-002) शिष्य द्वारा अनुरोध
2-002) मोक्ष, मोक्ष का फल, मोक्ष का कारण करने की प्रतिज्ञा
2-004) मोक्ष ही सुख
2-004) तीन पुरुषार्थों की अपेक्षा मोक्ष पुरुषार्थ की उत्तमता
2-006) मोक्ष तीन-लोक में उत्कृष्ट
2-006) मोक्ष में अविनाशी सुख
2-008) सभी ज्ञानियों का ध्येय मोक्ष
2-008) मोक्ष के चिंतवन की प्रेरणा
2-010) मोक्ष - परमात्म-प्राप्ति
2-010) मोक्षफल - शास्वत सुख
2-012) मोक्ष-मार्ग - निश्चय रत्नत्रय
2-012) मोक्ष-मार्ग - रत्नत्रय परिणत आत्मा
2-014) व्यवहार-रत्नत्रय की सार्थकता
2-014) व्यवहार-सम्यक्त्व
2-016) छह-द्रव्य
2-016) द्रव्यों के नाम
2-018) जीव का लक्षण
2-018) पुद्गल, धर्म, अधर्म का लक्षण
2-020) आकाश द्रव्य
2-020) काल द्रव्य
2-022) अखंड-प्रदेशी द्रव्य
2-022) क्रिया-रहित द्रव्य
2-024) द्रव्यों के प्रदेश
2-024) एक जगह रहते हुए भी मिलते नहीं
2-026) द्रव्यों का जीव पर उपकार
2-026) पर-द्रव्य दुःख का कारण
2-028) क्रम-प्राप्त ज्ञान और चारित्र का वर्णन
2-028) सम्यग्ज्ञान

2-030) सम्यक-चारित्र
2-030) अभेद रत्नत्रय
2-032) रत्नत्रय ही आत्मा
2-032) निर्मल आत्म-ध्यान से मुक्ति
2-034) सामान्य अवलोकन - दर्शन
2-034) दर्शन पूर्वक ज्ञान
2-036) तप द्वारा निर्जरा
2-036) समभाव द्वारा संवर
2-038) आत्मलीन ही संवर और निर्जरा
2-038) परिग्रह-रहित को संवर-निर्जरा
2-040) समभाव बिना रत्नत्रय नहीं
2-040) कषायों द्वारा असंयम
2-042) मोह-राग-द्वेष रहित को मुक्ति
2-042) परमार्थ के ज्ञाता सुखी
2-044) समभावधारी की निंदा द्वारा स्तुति
2-044) और भी निन्दा द्वारा स्तुति
2-046-A) योगी और भोगी में भेद
2-046-A) और भी निन्दा द्वारा स्तुति
2-047) ज्ञानी के किसी से राग द्वेष नहीं
2-047) ज्ञानी समभाव को छोड़कर कुछ नहीं करता
2-049) ज्ञानी के परिग्रह में राग-द्वेष नहीं
2-049) ज्ञानी के विषयों में राग-द्वेष नहीं
2-051) ज्ञानी के देह में राग-द्वेष नहीं
2-051) ज्ञानी के ग्रहण-त्याग में राग-द्वेष नहीं
2-053) बंध-मोक्ष का कारण स्वयं -- ज्ञानी
2-053) पुण्य-पाप मोक्ष के कारण -- अज्ञानी
2-055) अज्ञानी पुण्य-पाप को समान नहीं मानता
2-055) पाप का उदय भी भला
2-057) पुण्य का उदय भी बुरा
2-057) आत्मदर्शी का मरण भी शुभ और अज्ञानी का पुण्य करना भी अशुभ
2-059) आत्मदर्शी सुखी, अज्ञानी दुखी
2-059) मोह उत्पन्न करे ऐसा पुण्य का उदय बुरा
2-061) देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति से पुण्य, मुक्ति नहीं
2-061) देव-शास्त्र-गुरु से द्वेष पापभाव
2-063) पाप से दुर्गति, पुण्य से सुगति, दोनों के ही नाश से मोक्ष
2-063) ज्ञानी के लिए वंदना, निंदा, प्रायश्चित्त हेय
2-065) ज्ञानियों को ज्ञानमय भाव नहीं छोड़ना चाहिए
2-065) शुद्ध-उपयोग बिना मुक्ति नहीं
2-067) शुद्धोपयोग ही मुख्य
2-067) शुद्ध-उपयोग ही धर्म
2-069) शुद्ध-भाव बिना मुक्ति नहीं
2-069) चित्त की शुद्धि बिना सब करना व्यर्थ
2-071) शुभ से धर्म, अशुभ पाप, शुद्ध अबन्धक
2-071) दान से भोग, तप से इंद्रत्व, ज्ञान से मोक्ष
2-073) निसंदेह ज्ञान से ही मोक्ष, ज्ञान-रहित को संसार-भ्रमण
2-073) ज्ञान-रहित के मोक्ष नहीं -- उदाहरण
2-075) आत्म-बोध बिना ज्ञान और तप व्यर्थ
2-075) आत्मज्ञानी के पर-द्रव्य में प्रीती नहीं
2-077) आत्मज्ञानी को विषय-भोग में प्रीती क्यों नहीं?
2-077) आत्मज्ञान श्रेष्ठ -- उदाहरण
2-079) कर्म-फल में राग-द्वेष से संसार
2-079) कर्म-फल में राग-द्वेष रहित के निर्जरा
2-081) परमाणु-मात्र राग-द्वेष भी मुक्ति में बाधक

2-081) आत्म-ज्ञान बिना शास्त्र-ज्ञान और तप से मुक्ति नहीं
2-083) शास्त्र-पढ़ने का प्रयोजन विकल्प-रहितता
2-083) शास्त्र-ज्ञान का प्रयोजन आत्म-ज्ञान
2-085) आत्म-ज्ञान बिना तीर्थ-भ्रमण से मुक्ति नहीं
2-085) ज्ञानी और मिथ्यादृष्टि मुनि में भेद
2-087) अज्ञानी धर्म के फल में संसार को चाहता है
2-087) अज्ञानी शिष्य-पुस्तकादिक से हर्षित होता है
2-089) अज्ञानी के ख्याति-लाभ-पूजा द्वारा संसार
2-089) द्रव्यलिंगी अपने-आप को ठगता है
2-091) द्रव्यलिंगी छोड़कर फिर ग्रहण कर लेता है
2-091) ख्याति-लाभ के लिए परमात्मा को छोड़ना तुच्छ-बुद्धि
2-093) मिथ्यादृष्टि परमार्थ से अनिभिज्ञ
2-093) परमार्थ से सभी जीव समान
2-095) परमार्थ से जीवों में शरीर-कृत भेद नहीं
2-095) केवलज्ञानी तीन-लोक के जीवों को सामान देखते हैं
2-097) परमार्थ दृष्टि से जीव
2-097) सभी जीव दर्शन-ज्ञानमयी
2-099) शुद्ध-जानने वाले जीवों में भेद नहीं करते
2-099) जो साधु जीवों को सामान देखते हैं वे मुक्त होते हैं
2-101) सभी जीवों का निज-लक्षण दर्शन और ज्ञान
2-101) शरीरों के भेद से जीवों में भेद देखना मिथ्यादृष्टि
2-103) शारीरिक अवस्था कर्म-कृत
2-103) शत्रु-मित्र, अपने-पराए में एकपना करना सम्यग्दर्शन
2-105) समभाव संसार-समुद्र के लिए नाव के समान
2-105) जीवों में भेद करने वाला कर्म जीव नहीं
2-107) ब्राह्मणादि वर्ण-भेद भी मत कर
2-107) आत्मज्ञ पर-द्रव्य के सम्बन्ध को छोड़ देते हैं
2-109) जिनके समभाव नहीं उनका संग मत कर
2-109) कुसंग से दुःख का उदाहरण
2-111-a) भिक्षा में स्वादयुक्त आहार की इच्छा मत कर
2-111-a) भोजन की लोलुपता को त्याग
2-111-c) मुनि भोजन में गृद्धता न करे
2-111-c) मोह दुख का कारण देख और छोड़
2-112) इन्द्रिय-विषयों को त्याग
2-112) लोभ को दुःख का करण देख और त्याग
2-114) उदाहरण
2-114) स्नेह को दुःख का कारण देख और त्याग
2-116) उदाहरण
2-116) जो विषयों में आसक्त नहीं, वे धन्य
2-118) जिनेश्वरदेव ने भी राज्य-वैभव छोड़कर मोक्ष को साधा
2-118) संसार में सिर्फ दुःख, मोक्ष को जा ।
2-120) दुःख-रुपी कर्म को मत कर
2-120) अज्ञानी कर्मों को करता है
2-122) ज्ञान-रहित जीव दुखी
2-122) संयोग कर्माधीन और विनाशीक
2-124) निश्चिन्त होकर तप कर
2-124) पाप के फल को अकेले ही भोगना होगा
2-126) पाप का फल अनन्त गुणा
2-126) जीवों को अभयदान दे
2-128) कर्म-कृत को भ्रम जानकर छोड़
2-128) शरीर भी कर्म-कृत
2-130) सभी संयोग नष्ट हो जाएँगे
2-130) एक शुद्धात्मा को छोड़कर सब-कुछ विनाशीक

2-132) धन-यौवन विनाशीक, धर्म कर
2-132) शरीर को तप में लगा
2-134) कुटुम्बी-जन संसार का कारण
2-134) मनुष्य जन्म पाकर तप करना चाहिए
2-136) इन्द्रियों को वश में कर
2-136) इन्द्रिय विजयी ही ध्यानी
2-137) मन को इन्द्रियों के विषयों में जाने से रोक
2-137) विषय-सुख में रमणता दुख का कारण
2-139) विषय-भोग के त्यागी धन्य
2-139) मन इन्द्रियों का स्वामी
2-141) जीतेंद्रिय होकर शुद्धात्मा का अनुभव कर
2-141) आत्म-ज्ञान बिना दुःख
2-143) आज तक सम्यक्त्व नहीं ग्रहण किया
2-143) घर-वास पाप वास है
2-145) पर में ममत्व मत कर
2-145) शुद्धात्मा को छोड़ कुछ और भावना मत कर
2-147) शरीर असार है
2-147) शरीर अशुचि है
2-149) अशुचि शरीर से प्रीति मत कर
2-149) शरीर पाप, दुःख और अशुचि से निर्मित
2-151) देह से नहीं धर्म से प्रीति कर
2-151) आत्मा को ज्ञानादि गुणमय देख
2-153) देह दुःख का कारण अत: ममत्व त्याग
2-153) इन्द्रियाधीन सुख की जगह आत्माधीन सुख को देख
2-155) ज्ञान को छोड़कर कुछ भी आत्मा नहीं
2-155) स्थिर चित्त द्वारा आत्मा प्रत्यक्ष
2-157) योग द्वारा मन को वश में कर
2-157) आत्म-ध्यान द्वारा ही केवलज्ञान
2-159) विकल्प-रहित होकर आत्म-ध्यान करने वाले धन्य
2-159) समूल परिवर्तित, पुण्य-पाप से रहित धन्य
2-161) प्रभाकर भट्ट द्वारा निवेदन
2-161) योग द्वारा ध्यान
2-163) परम-समाधि
2-163) निर्विकल्प समाधि द्वारा मोह टूटता है
2-165) प्रभाकर भट्ट द्वारा विनती
2-165) परमार्थ मार्ग
2-168) व्यवहार मोक्षमार्ग
2-168) अकेले बाह्य-योग दारा सिद्धि नहीं
2-170) चिंता-मुक्त हुए बिना संसार भरमान नहीं छूटता
2-170) मन को मारकर परब्रह्म का ध्यान करो
2-172) सब विषयों को छोड़कर आत्मदेव को ध्यावो
2-172) आत्मा को जिसरूप से ध्यावो, उसी-रूप परिणमता है
2-174) आत्मा परमात्मा कैसे बनता है?
2-174) मैं ही परमात्मा
2-176) कर्म-स्वभाव आत्म-स्वभाव से भिन्न
2-176) आत्मा को निर्मल देख
2-178-181) भेदविज्ञान की भावना का रक्त पीतादि वस्त्र द्वारा दृष्टांत
2-178-181) शरीर को शत्रु की तरह देख
2-183) दुःख में भी सकारात्मकता
2-183) विपरीत परिस्थितियों में आत्म-तत्त्व की भावना
2-185) कर्म-बंध नहीं करे, आत्म-स्वरूप में लगे
2-185) कोई दोष ग्रहण करे तो क्षमाभाव रखे
2-187) सब चिंताओं का निषेध

2-187) मोक्ष की भी चिन्ता नहीं करे
2-189) परमसमाधि द्वारा कर्मों से छूटना होता है
2-189) शुभ-अशुभ विकल्पों का नाश ही परम-समाधि
2-191) समभाव बिना ज्ञान और तप व्यर्थ
2-191) विषय-कषाय रहित परम-समाधि
2-193) मात्र बाह्य समाधि से कार्य की सिद्धि नहीं
2-193) चित्त से विकल्पों का हटना ही परमसमाधि
2-195) परम-समाधि में लीनता से केवलज्ञान
2-195) केवलज्ञान की महिमा
2-197) केवलज्ञान ही आत्मा का स्वभाव
2-197) कर्मों और दोषों से रहित ही परमात्म-प्रकाश
2-199) अनंतचतुष्टयमयी परमप्रकाश है
2-199) जिनदेव के ही अनेक नाम
2-201) सिद्ध भगवान
2-201) सिद्धों की महिमा
2-203) सिद्धों का स्वरूप
2-203) परमात्मप्रकाश की भावना में लीनता का फल
2-205) परमात्मप्रकाश के अभ्यास का फल
2-205) परमात्मप्रकाश के पढ़ने का फल
2-207) परमात्मप्रकाश ग्रंथ के योग्य कौन?
2-207) और भी
2-209) और भी
2-209) शास्त्र का फल
2-211) उद्धतपने का त्याग
2-211) ग्रन्थकर्ता द्वारा क्षमायाचना
2-213) ग्रंथ के पढ़ने का फल
2-213) अन्त-मंगल

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नम: !!
श्रीमद्-भगवत्योगीन्दु-देव-प्रणीत
श्री
परमात्मप्रकाश
मूल प्राकृत गाथा,
आभार :
!! नम: श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!
ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नम: ॥1॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥3॥
॥ श्रीपरमगुरुवे नम:, परम्पराचार्यगुरुवे नम: ॥
सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमन: प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री-परमात्मप्रकाश नामधेयं, अस्य मूल-ग्रन्थकर्तार: श्री-सर्वज्ञ-देवास्तदुत्तर-ग्रन्थ-कर्तार: श्री-गणधर-देवा: प्रति-गणधर-देवास्तेषां वचनानुसार-मासाद्य आचार्य श्री-भगवत्योगीन्दु-देव विरचितं ॥
॥ श्रोतार: सावधान-तया शृणवन्तु ॥
मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

मंगलाचरण

जे जाया झाणग्गियएँ कम्म-कलंक डहेवि
णिच्च-णिरंजण-णाण-मय ते परमप्प णवेवि ॥1॥
अन्वयार्थ : [ये] जो (भगवान्) [ध्यानाग्निना] ध्यानरूपी अग्नि से [कर्म-कलङ्कान्] पहले कर्मरूपी मैलों को [दग्ध्वा] भस्म करके [नित्यनिरंजनज्ञानमयाः जाताः] नित्य, निरंजन और ज्ञानमयी सिद्ध परमात्मा हुए हैं, [तान्] उन [परमात्मनः] सिद्धों को [नत्वा] नमस्कार करके मैं परमात्मप्रकाश का व्याख्यान करता हूँ ।

सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार

ते वंदउँ सिरि-सिद्ध-गण होसहिँ जे वि अणंत
सिवमय-णिरुवम-णाणमय परम-समाहि भजंत ॥2॥
अन्वयार्थ : और भी उन मंगलमय, अनुपम, ज्ञानयुक्त, अनन्त श्री सिद्ध समूहों को नमस्कार करता हूँ जो (आगामी काल में) परम समाधि को अनुभव करते हुए (सिद्ध) होंगे।

सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार

ते हउँ वंदउँ सिद्ध-गण अच्छहिँ जे वि हवंत

परम-समाहि-महग्गियएँ कम्मिंधणइँ हुणंत ॥3॥

अन्वयार्थ : और भी उन सिद्ध समूहों को प्रणाम करता हूँ जो (सिद्ध) परमसमाधिरूप उत्तम अग्नि में कर्मोंरूपी ईंधन को होम करते हुए (तथा) (सिद्धत्व को) प्राप्त करते हुए विद्यमान हैं ।

सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार

ते पुणु वंदउँ सिद्ध-गण जे णिव्वाणि वसंति

णाणिं तिहुयणि गरुया वि भव-सायरि ण पडंति ॥4॥

अन्वयार्थ : [पुन: तान्] फिर उन [सिद्धगणान् वन्दे] सिद्धों को वन्दता हूँ, [ये निर्वाणे वसन्ति] जो मोक्ष में तिष्ठते हैं, [ज्ञानेन त्रिभुवने गुरुका अपि] ज्ञान द्वारा तीन-लोक में गुरु हैं, तो भी [भवसागरे न पतन्ति] संसार-समुद्र में नहीं पडते ।

सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार

ते पुणु वंदउँ सिद्ध-गण जे अप्पाणि वसंत

लोयालोउ वि सयलु इहु अच्छहिँ विमलु णियंत ॥5॥

अन्वयार्थ : [अहं पुन: तान्] मैं फिर उन [सिद्धगणान्] सिद्धों के समूह को [वन्दे] वंदता हूँ [ये आत्मनि वसन्त:] जो अपने में तिष्ठते हुए [सकलं] समस्त [लोकालोकं] लोकालोक को [विमलं] स्पष्ट [पश्यन्त:] देखते हुए [तिष्ठन्ति] ठहरते हैं ।

अरिहंत परमेष्ठी को नमस्कार

केवल-दंसण-णाणमय केवल-सुक्ख-सहाव

जिणवर वंदउँ भत्तियए जेहिँ पयासिय भाव ॥6॥

अन्वयार्थ : [केवलदर्शनज्ञानमया:] केवलदर्शन-ज्ञानमयी, [केवलसुखस्वभावा:] केवलसुख स्वभावी [जिनवरान्] जिनेन्द्र भगवान को [भक्त्या] भक्ति से [वन्दे] नमस्कार करता हूँ [यै:] जिन्होंने [भावा:] तत्वों (जीवादिक सकल पदार्थों) को [प्रकाशिता:] प्रकाशित किया ।

आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी को नमस्कार

जे परमप्पु णियंति मुणि परम-समाहि धरेवि

परमाणंदह कारणिण तिण्णि वि ते वि णवेवि ॥7॥

अन्वयार्थ : [ये मुनय:] जो [मुनय:] मौन (मुनि) [परमसमाधिं] परमसमाधि को [धृत्वा] धारण कर [परमानंदस्य कारणेन] परमसुख के लिए [परमात्मानं पश्यन्ति] परमात्मा को देखते हैं [त्रीन् अपि] तीनों ही आचार्य, उपाध्याय, साधु, [तान् अपि] उन्हें भी [नत्वा] नमस्कार हो ।

प्रभाकरभट्ट द्वारा विनती

भाविं पणविवि पंच-गुरु सिरि-जोइंदु-जिणाउ

भट्टपहायरि विण्णविउ विमलु करेविणु भाउ ॥8॥

अन्वयार्थ : [भावेन पञ्चगुरून् प्रणम्य] भावों से पंच-परमेष्ठियों को नमस्कार कर [भट्टप्रभाकरेण] प्रभाकरभट्ट [भावं विमलं कृत्वा] अपने परिणामों को निर्मल करके [श्रीयोगीन्द्रजिन:] श्रीयोगीन्द्रदेव से [विज्ञापित:] शुद्धात्मतत्त्व के जानने के लिये महाभक्ति से विनती करते हैं ।

विनती

गउ संसारि वसंताहँ सामिय कालु अणंतु

पर मइँ किं पि ण पत्तु सुहु दुक्खु जि पत्तु महंतु ॥9॥

अन्वयार्थ : [हे स्वामिन्] हे स्वामी, [संसारे वसतां] इस संसार में रहते हुए [अनंत: काल: गत:] अनंतकाल बीत गया, [परं] लेकिन [मया

किमपि सुखं] मैंने कुछ भी सुख [न प्राप्तं] नहीं पाया [महत् दुखं एव प्राप्तं] महान् दुःख ही पाया ।

परमात्मा के कथन की विनती

चउ-गइ-दुक्खहँ तत्ताहँ जो परमप्पउ कोइ
चउ-गइ-दुक्ख-विणासयरु कहहु पसाएँ सो वि ॥10॥

अन्वयार्थ : [चतुर्गतिदु:खै:] चारों गतियों के दुःखों से [तप्तानां] दुखीयों के लिए [चतुर्गतिदु:खविनाशकर:] चार गतियों के दुःखों का विनाश करनेवाला [य: कश्चित्] जो कोई [परमात्मा] चिदानंद परमात्मा है, [तमपि] उसको [प्रसादेन कथय] कृपा करके कहिए ।

तीन प्रकार के आत्मा को कहने की प्रतिज्ञा

पुणु पुणु पणविवि पंच-गुरु भावेँ चित्ति धरेवि
भट्टपहायर णिसुणि तुहुँ अप्पा तिविहु कहेवि ॥11॥

अन्वयार्थ : [पुन: पुन: पञ्चगुरुन् प्रणम्य] बारम्बार पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार की [भावेन] भावना [चित्ते धृत्वा] मन में धारण करके [त्रिविधं] तीन प्रकार के [आत्मानं] आत्मा को [कथयामि] कहता हूँ, सो हे प्रभाकरभट्ट, [त्वं निशृणु] तू निश्चय से सुन ।

तीन प्रकार के आत्मा को जानने का प्रयोजन

अप्पा ति-विहु मुणेवि लहु मूढउ मेल्लहि भाउ
मुणि सण्णाणेँ णाणमउ जो परमप्प-सहाउ ॥12॥

अन्वयार्थ : [आत्मानं त्रिविधं मत्वा] आत्मा को तीन प्रकार का जानकर [मूढं भावम्] अज्ञान (बहिरात्म स्वरूप) भाव को [लघु मुञ्च] शीघ्र ही छोड़, और [स्वज्ञानेन] अपने को (स्वसंवेदन) ज्ञान से [मन्यस्व] जानकर (अंतरात्मा होकर) [ज्ञानमयः] ज्ञानमय (केवलज्ञान स्वरूप) हो [यः परमात्मस्वभावः] जो कि परमात्मा का स्वभाव है ।

बहिरात्मा

मूढु वियक्खणु बंभु परु अप्पा ति-विहु हवेइ
देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढु हवेइ ॥13॥

अन्वयार्थ : [मूढः] अज्ञानी बहिरात्मा, [विचक्षणः] अंतरात्मा [ब्रह्मा परः] और परमात्मा इसप्रकार आत्मा [त्रिविधो भवति] तीन तरह का है, [यः] जो [देहमेव] देह को ही [आत्मानं मनुते] आत्मा मानते हैं, [स जनः] वे लोग [मूढः भवति] बहिरात्मा हैं ।

अन्तरात्मा

देह-विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ
परम-समाहि-परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ ॥14॥

अन्वयार्थ : [यः परमात्मानं] जो परमात्मा को [देहविभिन्नं ज्ञानमयं पश्यति] शरीर से जुदा ज्ञानमय देखता है, [स एव] वही [परमसमाधिपरिस्थितः] परम-समाधि में स्थित [पण्डितः भवति] अन्तरात्मा है ।

परमात्मा

अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्म-विमुक्केँ जेण
मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु सो परु मुणहि मणेण ॥15॥

अन्वयार्थ : [येन कर्मविमुक्तेन] जिसने ज्ञानावरणादि कर्मों का नाश करके [सकलमपि परं द्रव्यं मुक्त्वा] और सब ही परद्रव्यों को छोड़ करके [ज्ञानमयः आत्मा लब्धः] ज्ञानमयी आत्मा पाया है, [तं मनसा] उसको मन से [परं मन्यस्व] परमात्मा जानो ।

ध्येय

तिहुयण-वंदिउ सिद्धि-गउ हरि-हर झायहिँ जो जि
लक्खु अलक्खेँ धरिवि थिरु मुणि परमप्पउ सो जि ॥16॥

अन्वयार्थ : [त्रिभुवनवंदितं] तीनलोक द्वारा वंदनीय [सिद्धिगतं] सिद्धि प्राप्त [हरिहराः] इन्द्र, नारायण आदि [यं एव ध्यायन्ति] जिसे ध्यावते हैं, [लक्ष्यं अलक्ष्ये] निर्विकल्प चित्त में [स्थिरं धृत्वा] स्थिर होकर [तमेव] तू भी [परमात्मानं मन्यस्व] उस परमात्मा को जान ।

लक्ष्य के लक्षण

णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंद-सहाउ
जो एहउ सो संतु सिउ तासु मुणिज्जहि भाउ ॥17॥

अन्वयार्थ : [नित्यः निरञ्जनः ज्ञानमयः] अविनाशी, रागादिक उपाधि से रहित, केवलज्ञानमयी और [परमानंदस्वभावः] परमानंद स्वाभावी [यः ईद्रशः सः] जो ऐसा है, वही [शान्तः शिवः] शांतरूप और शिवस्वरूप है, [तस्य भावं जानीहि] उसे ही स्वभाव जान ।

शान्त और शिव

जो णिय-भाउ ण परिहरइ जो पर-भाउ ण लेइ
जाणइ सयलु वि णिच्चु पर सो सिउ संतु हवेइ ॥18॥

अन्वयार्थ : [यः निज भावं न परिहरति] जो (अनंतज्ञानादिरूप) अपने भावों को नहीं छोड़ता [यः परभावं न लाति] और जो काम-क्रोधादिरूप पर-भावों को ग्रहण नहीं करता, [सकलमपि] समस्त को ही (तीन लोक तीन काल की सब चीजों को) [परं नित्यं जानाति] केवल हमेशा जानता है, [सः शिवः शांतः भवति] वही शिवस्वरूप तथा शांतस्वरूप है ।

निरन्जन

जासु ण वण्णु ण गंधु रसु जासु ण सद्दु ण फासु
जासु ण जम्मणु मरणु णवि णाउ णिरंजणु तासु ॥19॥
जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय सो जि णिरंजणु जाणु ॥20॥
अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु अत्थि ण हरिसु विसाउ
अत्थि ण एक्कु वि दोसु जसु सो जि णिरंजणु भाउ ॥21॥

अन्वयार्थ : [यस्य वर्णः न गंधः रसः न] जिसके रंग नहीं, गंध, रस नहीं, [यस्य शब्दः न स्पर्शः न] जिसके शब्द नहीं, स्पर्श नहीं, [यस्य जन्म न मरणं नापि] जिसके जन्म नहीं, मरण भी नहीं, [तस्य निरंजनं नाम] उसका निरंजन नाम है । [यस्य क्रोधः न] जिसके क्रोध नहीं, [मोहः मदः न] मोह तथा मद नहीं, [यस्य माया न मानः न] जिसके माया व मान नहीं, और [यस्य] जिसके [स्थानं न] ध्यान के स्थान (नाभि, हृदय, मस्तक, आदि) नहीं, [ध्यानं न] चित्त के रोकनेरूप ध्यान नहीं, [स एव] उसे भी निरंजन जानो । [यस्य पुण्यं न पापं न अस्ति] जिसके पुण्य नहीं, तथा पाप नहीं, [हर्षः विषादः न] हर्ष व शोक नहीं, [यस्य एकः अपि दोषः] और जिसके (क्षुधा-पिपासा आदि) एक भी दोष नहीं, [स एव निरंजनः भावय] उसी को निरंजन जान ।

परमात्मा - ध्यान के साधन नहीं

जासु ण धारणु धेउ ण वि जासु ण जंतु ण मंतु
जासु ण मंडलु मुद्द ण वि सो मुणि देउँ अणंतु ॥22॥

अन्वयार्थ : [यस्य धारणा न] जिसके (कुंभक, पूरक, रेचकनामवाली) वायुधारणादिक नहीं, [ध्येयं नापि] (प्रतिमा आदि) ध्यान करने योग्य पदार्थ भी नहीं, [यस्य यन्त्रः न] जिसके (अक्षरों की रचनारूप स्तंभन मोहनादि विषयक) यंत्र नहीं, [मन्त्रः न] (अनेक तरहके

अक्षरोंके बोलनेरूप) मंत्र नहीं, [यस्य मण्डलं न] और जिसके (जलमंडल, वायुमंडल, अग्निमंडल, पृथ्वीमंडलादिक) पवन के भेद नहीं, [मुद्रा न] (गारुडमुद्रा, ज्ञानमुद्रा आदि) मुद्रा नहीं, [तं अनन्तम् देवम् मन्यस्व] ऐसा अविनाशी परमात्मदेव जानो ।

परमात्मा - ज्ञान का साधन नहीं

वेयहिँ सत्थहिँ इंदियहिँ जो जिय मुणहु ण जाइ
णिम्मल-झाणहँ जो विसउ सो परमप्पु अणाइ ॥23॥

अन्वयार्थ : [वेदैः] वेद से, [शास्त्रैः] शास्त्र से, [इन्द्रियैः यः मन्तुं न याति] इंद्रिय (और मन) से भी जो जाना नहीं जाता, [यः निर्मलध्यानस्य विषयः] जो निर्मल ध्यान का विषय है, [स अनादिः परमात्मा] वही आदि अंत रहित परमात्मा है ।

परमात्मा - अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यमयी

केवल-दंसण -णाणमउ केवल-सुक्ख सहाउ
केवल-वीरिउ सो मुणहि जो जि परावरु भाउ ॥24॥

अन्वयार्थ : [यः केवलदर्शन ज्ञानमयः] जो अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञानमयी, [केवलसुखस्वभावः] अनन्तसुख स्वभावी, [केवलवीर्यः] अनंतवीर्यमयी है, [स एव परापरभावः मन्यस्व] उसे ही लोक और परलोक में उत्कृष्ट (परमात्मा) मानो ।

परमात्मा - शरीर रहित लोक के शिखर पर स्थित

एयहिँ जुत्तउ लक्खणहिँ जो परु णिक्कलु देउ
सो तहिँ णिवसइ परम-पइ जो तइलोयहँ झेउ ॥25॥

अन्वयार्थ : [एतैः लक्षणैः युक्तः] उन लक्षणों से सहित [परः निष्कलः] सबसे उत्कृष्ट शरीर-रहित, [देवः यः सः] जो देव वही [तत्र परमपदे] उस लोक के शिखर पर [निवसति यः] विराजमान है, जो कि [त्रैलोक्यस्य ध्येयः] तीन लोक का ध्येय है ।

परमात्मा - शरीर में स्थित

जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहिँ णिवसइ देउ
तेहउ णिवसइ बंभु परु देहहं मं करि भेउ ॥26॥

अन्वयार्थ : [यादृशः निर्मलः ज्ञानमयः] जैसा निर्मल केवलज्ञानमय [देवः सिद्धौ] देव सिद्ध-गति में [निवसति] रहता है, [ताद्रशः] वैसा ही [परः ब्रह्मा] परम-ब्रह्म (परमात्मा) [देहे] शरीर में [निवसति] तिष्ठता है, [भेदम् मा कुरु] भेद मत कर ।

परमात्मा - अंतर-दृष्टि के प्रेरणा

जेँ दिट्ठेँ तुट्टंति लहु कम्मइँ पुव्व-कियाइँ
सो परु जाणहि जोइया देहि वसंतु ण काइँ ॥27॥

अन्वयार्थ : [येन द्रष्टेन लघु] जिसे देखने से शीघ्र ही [पूर्वकृतानि कर्माणि] पूर्व-कृत कर्म [त्रुटयन्ति] चूर्ण हो जाते हैं, [तं परं] उस परमात्मा के [देहं वसन्तं] देह में बसते हुए भी [हे योगिन्] हे योगी [किं न जानासि] तू क्यों नहीं जानता ?

परमात्मा शारीरिक और मानसिक सुख-दुःख रहित

जित्थु ण इंदिय-सुह-दुहइँ जित्थु ण मण-वावारु
सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ अण्णु परिं अवहारु ॥28॥

अन्वयार्थ : [यत्र इन्द्रियसुखदुःखानि न] जहाँ इन्द्रिय-जनित सुख-दुःख नहीं, [यत्र मनोव्यापारः न] जहाँ मन का व्यापार नहीं, [तं हे जीव त्वं] उसे हे जीव तू [आत्मानं मन्यस्व] आत्मा मान, [अन्यत्परम् अपहर] अन्य सबको छोड़ ।

[परमात्मा - देह में रहते हुए भी स्वभाव में स्थित

देहादेहहिँ जो वसइ भेयाभेय-णएण
सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ किं अण्णेँ बहुएण ॥29॥

अन्वयार्थ : [यः भेदाभेदनयेन देहादेहयोः वसति] जो व्यवहारनय से देह में और निश्चयनय से आत्म-स्वभाव में ठहरा हुआ है, [तं हे जीव त्वं] उसे हे जीव, तू [आत्मानं मन्यस्व] परमात्मा जान, [अन्येन बहुना किम्] अन्य से क्या (प्रयोजन) ?

भेद-ज्ञान की प्रेरणा

जीवाजीव म एक्कु करि लक्खण-भेएँ भेउ
जो परु सो परु भणमि मुणि अप्पा अप्पु अभेउ ॥30॥

अन्वयार्थ : [जीवाजीवौ एकौ मा कार्षीः] जीव और अजीव को एक मतकर [लक्षणभेदेन भेदः] लक्षण के भेद से भेद कर [यत्परं तत्परं मन्यस्व] जो पर हैं उनको पर जान [च आत्मनः आत्मना अभेदः] और आत्मा का अपने से अभेद जान [भणामि] ऐसा मैं कहता हूँ । ।

आत्मा का लक्षण

अमणु अणिंदिउ णाणमउ मुत्ति-विरहिउ चिमित्तु
अप्पा इंदिय-विसउ णवि लक्खणु एहु णिरुत्तु ॥31॥

अन्वयार्थ : [आत्मा] आत्मा [अमनाः] मन से रहित, [अनिन्द्रियः] इन्द्रिय-रहित, [ज्ञानमयः] ज्ञानमयी, [मूर्तिविरहितः] अमूर्तीक, [चिन्मात्रः] चेतनामात्र [इन्द्रियविषयः नैव] इन्द्रियों का विषय नहीं है, [एतत् लक्षणं] ये लक्षण [निरुक्तम्] कहे गये हैं ।

ध्यान की विधि और उसका फल

भव-तणु-भोय-विरत्त-मणु जो अप्पा झाएइ
तासु गुरुक्की वेल्लडी संसारिणि तुट्टेइ ॥32॥

अन्वयार्थ : [यः भवतनुभोगविरक्तमनाः] जो संसार, शरीर और भोगों में विरक्त मन हुआ [आत्मानं ध्यायति] आत्मा को ध्याता है, [तस्य गुर्वी सांसारिकी वल्ली] उसकी मोटी संसाररूपी बेल [त्रुटयति] टूट जाती है ।

देह में ही परमात्मा का निवास

देहादेवलि जो वसइ देउ अणाइ-अणंतु
केवल-णाण-फुरंत-तणु सो परमप्पु णिभंतु ॥33॥

अन्वयार्थ : [यः देहदेवालये वसति] जो देहरूपी देवालय में बसने वाला, [देवः अनाद्यनन्तः] पूज्य, अनादि-अनंत, [केवलज्ञानस्फुरत्तनुः] केवलज्ञान से स्फुरायमान, [सः परमात्मा निर्भ्रान्तः] वही परमात्मा है, इसमें कुछ संशय नहीं ।

परमात्मा का एक अद्भुत् लक्षण

देहे वसंतु वि णवि छिवइ णियमेँ देहु वि जो जि
देहेँ छिप्पइ जो वि णवि मुणि परमप्पउ सो जि ॥34॥

अन्वयार्थ : [य एव देहे वसन्नपि] जो देह में रहता हुआ भी [नियमेन देहमपि] नियम से शरीर को [नैव स्पृशति] नहीं स्पर्श करता, [देहेन यः अपि] देह से वह भी [नैव स्पृश्यते] नहीं छुआ जाता [तमेव] उसी को [परमात्मानं मन्यस्व] परमात्मा जान ।

परमात्मा - समभाव द्वारा परम आनन्द की प्राप्ति

जो सम-भाव -परिट्ठियहं जोइहँ कोइ फुरेइ
परमाणंदु जणंतु फुडु सो परमप्पु हवेइ ॥35॥

अन्वयार्थ : [समभावप्रतिष्ठितानां योगिनां] समभाव में परिणत योगियों के [परमानन्दं जनयन्] परम आनन्दको उत्पन्न करता हुआ [यः कश्चित् स्फुरति] जो कोई प्रकट होता है, [स स्फुटं परमात्मा भवति] वही स्पष्ट परमात्मा है ।

आत्मा का परम आत्मा स्वरूप

कम्म-णिबद्धु वि जोइया देहि वसंतु वि जो जि
होइ ण सयलु कया वि फुडु मुणि परमप्पउ सो जि ॥36॥

अन्वयार्थ : [योगिन् यः] हे योगी जो यह (परमात्मा) [कर्मनिबद्धोऽपि] यद्यपि कर्मों से बँधा है, [देहे वसन्नपि] देह में रहता भी है, [कदापि सकलः न भवति] परंतु कभी देहरूप नहीं होता, [तमेव परमात्मानं स्फुटं मन्यस्व] तू उसी को निश्चित परमात्मा जान ।

पूर्व कथन की पुष्टि

जो परमत्थेँ णिक्कलु वि कम्म-विभिण्णउ जो जि
मूढा सयलु भणंति फुडु मुणि परमप्पउ सो जि ॥37॥

अन्वयार्थ : [यः परमार्थेन] जो परमार्थ से [निष्कलोऽपि] शरीर-रहित, [कर्मविभिन्नोऽपि] कर्मों से जुदा है, तो भी [मूढाः सकलं] मूर्ख शरीरस्वरूप ही [स्फुटं भणन्ति] स्पष्ट मानते हैं, [तमेव परमात्मानं मन्यस्व] तू उसी को परमात्मा जान ।

परमात्मा - केवलज्ञान में स्वयं प्रतिभासित

गयणि अणंति वि एक्क उडु जेहउ भुयणु विहाइ
मुक्कहँ जसु पए बिंबियउ सो परमप्पु अणाइ ॥38॥

अन्वयार्थ : [गगने अनन्तेऽपि] अनंत आकाश में [एकं उडु यथा] एक नक्षत्र के जैसे [भुवनं विभाति] तीन लोक भासता है [मुक्तस्य यस्य पदे] जिस मुक्त के केवलज्ञान में [बिम्बितं सः परमात्मा अनादिः] बिंबित वह परमात्मा अनादि है ।

परमात्मा - ध्यान का ध्येय

जोइय-विंदहिँ णाणमउ जो झाइज्जइ झेउ
मोक्खहँ कारणि अणवरउ सो परमप्पउ देउ ॥39॥

अन्वयार्थ : [योगीन्द्रवृन्दैः] योगियों द्वारा वन्दित [ज्ञानमयः यो] ज्ञानमयी जो [मोक्षस्य कारणे] मोक्ष के निमित्त [अनवरतं ध्यायते ध्येयः] निरन्तर ध्यान का ध्येय, [सः परमात्मा देवः] वह परमात्मदेव है ।

परमात्मा - संसार को उपजाता है

जो जिउ हेउ लहेवि विहि जगु बहु-विहउ जणेइ
लिंगत्तय-परिमंडियउ सो परमप्पु हवेइ ॥40॥

अन्वयार्थ : [यः जीवः] जो जीव [विधिं हेतुं लब्ध्वा] विधिरूप (कर्म) कारणों को पाकर [बहुविधं जगत् जनयति] अनेक प्रकार के जगत को पैदा करता है [लिङ्गत्रयपरिमण्डितः] तीन लिंगों (स्त्री, पुरुष, नपुंसक) को धारण करता है, [सः परमात्मा भवति] वही परमात्मा है ।

परमात्मा - संसार में रहते हुए भी संसार से परे

जसु अब्भंतरि जगु वसइ जग-अब्भंतरि जो जि
जगि जि वसंतु वि जगु जि ण वि मुणि परमप्पउ सो जि ॥41॥

अन्वयार्थ : [यस्य अभ्यन्तरे] जिसके अन्दर में [जगत् वसति] संसार बसता है, [जगदभ्यन्तरे] और जगत् में वह बस रहा है, [जगति एव वसन्नपि] संसार में निवास करता हुआ भी [जगत् एव नापि] जगत जिसमें नहीं, [तमेव परमात्मानं मन्यस्व] उसे ही तू परमात्मा जान ।

परमात्मा उत्कृष्ट समाधि / तप द्वारा ही जाना जाता है

देहि वसंतु वि हरि-हर वि जं अज्ज वि ण मुणंति
परम-समाहि-तवेण विणु सो परमप्पु भणंति ॥42॥

अन्वयार्थ : [देहे वसन्तमपि] शरीर में बसने पर भी [यं हरिहरा अपि] जिसको नारायण / रूद्र सरीखे चतुर पुरुष भी [परमसमाधितपसा विना] परम समाधिभूत महातप के बिना [अद्य अपि न जानन्ति] अबतक भी नहीं जानते, [तं परमात्मानं भणन्ति] उसको परमात्मा कहा है ।

परमात्मा - उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त

भावाभावहिँ संजुवउ भावाभावहिँ जो जि ।
देहि जि दिट्ठउ जिणवरहिँ मुणि परमप्पउ सो जि ॥43॥

अन्वयार्थ : [य एव भावाभावाभ्यां संयुक्त:] जिसे उत्पाद-व्यय से सहित और [भावाभावाभ्यां] उत्पाद और विनाश से रहित [जिनवरैः] जिनवरदेव ने [देहे अपि द्रष्टः] देह में ही देख लिया, [तमेव परमात्मानं मन्यस्व] उसी को तू परमात्मा जान ।

शरीर और आत्मा के दृढ़ सम्बन्ध

देहि वसंतें जेण पर इंदिय-गामु वसेइ
उव्वसु होइ गएण फुडु सो परमप्पु हवेइ ॥44॥

अन्वयार्थ : [येन परं देहे वसता] जिसके देह में रहने से पर ही [इन्द्रियग्रामः वसति] इन्द्रिय गाँव बसता है, [उद्धसः भवति गतेन] जाने पर उजड़ जाता है [स्फुटं स परमात्मा भवति] निश्चय से वह परमात्मा है ।

देह से आत्मा का विशिष्ट महत्व

जो णिय-करणहिँ पंचहिँ वि पंच वि विसय मुणेइ
मुणिउ ण पंचहिँ पंचहिँ वि सो परमप्पु हवेइ ॥45॥

अन्वयार्थ : [यः निजकरणैः पञ्चभिरपि] जो अपनी पाँचों इन्द्रियो द्वारा [पञ्चापि विषयान् जानाति] पाँचों ही विषयों को जानता है, [पञ्चभिः] पाँच इन्द्रियों के [पञ्चभिरपि मतो न] पाँचों विषयों से भी जो नहीं जाना जाता, [स परमात्मा भवति] वही परमात्मा है ।

परमात्मा का वीतराग स्वरूप

जसु परमत्थेँ बंधु णवि जोइय ण वि संसारु
सो परमप्पउ जाणि तुहुँ मणि मिल्लिवि ववहारु ॥46॥

अन्वयार्थ : [हे योगिन् यस्य] हे योगी, जिसके [परमार्थेन संसारः नैव] निश्चय से संसार नहीं, [बन्धोनापि] बंध भी नहीं, [तं परमात्मनं त्वं] उस परमात्मा को तू [मनसि व्यवहारम् मुक्त्वा जानीहि] मन से व्यवहार मुक्त जान ।

परमात्मा के ज्ञान के स्थान का कथन

णेयाभावे विल्लि जिम थक्कइ णाणु वलेवि
मुक्कहँ जसु पय बिंबियउ परम-सहाउ भणेवि ॥47॥

अन्वयार्थ : [वल्लि तिष्ठति] बेल (लता) ठहरती है [यथा] वैसे ही, [मुक्तानां ज्ञानं] मुक्त (जीवों) का ज्ञान [बलेपि] शक्ति होने पर भी [ज्ञेयाभावे तिष्ठति] ज्ञेय के अभाव में ठहर जाता है, [यस्य पदे] उस केवलज्ञान द्वारा [बिम्बितं] प्रतिभासित [परमस्वभावं] अपना उत्कृष्ट स्वभाव [भणित्वा] जानो ।

कर्म बंधन से मुक्त परमात्मा का स्वरूप

णेयाभावे विल्लि जिम थक्कइ णाणु वलेवि
मुक्कहँ जसु पय बिंबियउ परम-सहाउ भणेवि ॥48॥
अन्वयार्थ : [कर्मभिः सदापि] कर्म सदा ही [निजनिजकार्यं जनयद्भिरपि] अपने अपने कार्य को प्रगट करते हैं; [यस्य किमपि] जिसमें कुछ भी [न जनितः नैव हृतः] न उत्पन्न और न विनाश हो, [तं परमात्मानं भावय] उसी परमात्मा की भावना कर ।

कर्म बंधन से मुक्त परमात्मा का स्वरूप

कम्म-णिबद्धु वि होइ णवि जो फुडु कम्मु कया वि
कम्मु वि जो ण कया वि फुडु सो परमप्पउ भावि ॥49॥
अन्वयार्थ : [यः कर्मनिबद्धोऽपि] जो कर्मों से बँधा हुआ होने पर भी [कदाचिदपि कर्म नैव स्फुटं भवति] कभी भी कर्मरूप नहीं होता, [कर्म अपि यः] और कर्म भी जिस रूप [कदाचिदपि स्फुटं न] कभी भी स्पष्ट नहीं होते, [तं परमात्मानं भावय] उस परमात्मा को जान ।

आत्मा क्या है

कि वि भणंति जिउ सव्वगउ जिउ जडु के वि भणंति
कि वि भणंति जिउ देह-समु सुण्णु वि के वि भणंति ॥50॥
अन्वयार्थ : [केऽपि जीवं सर्वगतं भणंति] कोई जीव को सर्वव्यापक कहते हैं, [केऽपि जीवं जडं भणंति] कोई जीव को जड़ कहते हैं, [केऽपि शून्यं अपि भणंति] कोई शून्य भी कहते हैं, [केऽपि जीवं देहसमं भणंति] कोई जीव को देहसमान कहते हैं ।

आत्मा का स्वरूप

अप्पा जोइय सव्व-गउ अप्पा जडु वि वियाणि
अप्पा देह-पमाणु मुणि अप्पा सुण्णु वियाणि ॥51॥
अन्वयार्थ : [हे योगिन् आत्मा सर्वगतः] हे योगी, आत्मा सर्वगत भी है, [आत्मा जडोऽपि विजानीहि] आत्मा को जड़ भी जान, [आत्मानं देहप्रमाणं मन्यस्व] आत्मा को देह बराबर मान, [आत्मानं शून्य विजानीहि] आत्मा को शून्य भी जान ।

आत्मा का सर्वव्यापक स्वरूप

अप्पा कम्म - विवज्जियउ केवल-णाणेँ जेण
लोयालोउ वि मुणइ जिय सव्वगु वुच्चइ तेण ॥52॥
अन्वयार्थ : [आत्मा कर्मविवर्जितः] आत्मा कर्म-रहित हुआ [केवलज्ञानेन येन] केवलज्ञान से जिस कारण [लोकालोकमपि मनुते] लोक और अलोक को जानता है [तेन जीव] इसीलिये जीव को [सर्वगः उच्यते] सर्वगत कहा है ।

आत्मा का जड स्वरूप

जे णिय-बोह -परिट्ठियहँ जीवहँ तुट्टइ णाणु
इंदिय-जणियउ जोइया तिं जिउ जडु वि वियाणु ॥53॥
अन्वयार्थ : [येन निजबोधप्रतिष्ठितानां जीवानां] चूंकि आत्म-ज्ञान में ठहरे हुए (केवालज्ञानी) जीवों के [इन्द्रियजनितं ज्ञानम्] इन्द्रिय-जनित ज्ञान [त्रुटयति हे योगिन्] नष्ट हो जाता है, हे योगी, [तेन जीवं जडमपि विजानीहि] उसी कारण से जीव को जड़ भी जानो ।

आत्मा का चरम शरीर प्रमाणरूप स्वरूप

कारण - विरहिउ सुद्ध-जिउ वड्ढइ खिरइ ण जेण
चरम-सरीर-पमाणु जिउ जिणवर बोल्लहिं तेण ॥54॥
अन्वयार्थ : [येन कारणविरहितः] जिस हेतु कारण के अभाव में [शुद्धजीवः न वर्धते क्षरति] शुद्ध-जीव न तो बढ़ता है, और न घटता है,

[तेन जिनवराः] इसी कारण जिनेन्द्रदेव [जीवं चरमशरीरप्रमाणं ब्रुवन्ति] जीव को चरम-शरीर-प्रमाण कहते हैं ।

आत्मा के शून्य स्वरूप का कथन

अट्ठ वि कम्मइँ बहुविहइँ णवणव दोस वि जेण

सुद्धहँ एक्कुवि अत्थि णवि सुण्णु वि वुच्चइ तेण ॥55॥

अन्वयार्थ : [येन अष्टौ अपि] जिस कारण आठों ही [बहुविधानि कर्माणि]अनेक भेदोंवाले कर्म [नवनव दोषा अपि एकः अपि] अठारह ही दोष इनमें से एक भी [शुद्धानां नैव अस्ति] शुद्धात्माओं में नहीं है, [तेन शून्योऽपि भण्यते] इसलिये शून्य भी कहा जाता है ।

आत्मा के लक्षण

अप्पा जणियउ केण ण वि अप्पेँ जणिउ ण कोइ

दव्व-सहावेँ णिच्चु मुणि पज्जउ विणसइ होइ ॥56॥

अन्वयार्थ : [आत्मा केन अपि न जनितं] आत्मा किसी से भी उत्पन्न नहीं हुआ, [आत्मना जनितं न किमपि] और आत्मा से कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं हुआ, [द्रव्यस्वभावेन नित्यं मन्यस्व] द्रव्य-स्वभाव को नित्य जानो, [पर्यायः विनश्यति भवति] पर्याय नष्ट होती है ।

आत्मा के लक्षण का स्पष्टीकरण

तं परियाणहि दव्वु तुहुँ जं गुण-पज्जय-जुत्तु

सह-भुव जाणहि ताहँ गुण कम-भुव पज्जउ वुत्तु ॥57॥

अन्वयार्थ : [यत् गुणपर्याययुक्तं] जो गुण और पर्यायों से सहित है, [तत् त्वं द्रव्यं परिजानिहि] उसको तू द्रव्य जान, [सहभुवः तेषां गुणाः] सदा साथ हों उन्हें गुण, [क्रमभुवः पर्यायाः उक्ताः] और जो क्रम से हों उन्हें पर्याय कहा है ।

आत्मा द्रव्य और उसके गुण

अप्पा बुज्झहि दव्वु तुहुँ गुण पुणु दंसणु णाणु

पज्जय चउ-गइ-भाव तणु कम्म-विणिम्मिय जाणु ॥58॥

अन्वयार्थ : [त्वं आत्मानं द्रव्यं] तू आत्मा को द्रव्य, [पुनः दर्शनं ज्ञानम् गुणौ बुध्यस्व] और दर्शन ज्ञान को गुण जान, [चतुर्गतिभावान् तनुं] चार गतियों के भाव तथा शरीर को [कर्मविनिर्मितान् पर्यायान् जानीहि] कर्म-जनित पर्याय समझ ।

आत्मा और कर्म का परष्पर सम्बन्ध

जीवहँ कम्मु अणाइ जिय जणियउ कम्मु ण तेण

कम्मेँ जीउ वि जणिउ णवि दोहिँ वि आइ ण जेण ॥59॥

अन्वयार्थ : [हे जीव] हे आत्मा [जीवानां कर्माणि] जीवों के कर्म [अनादीनि] अनादि काल से हैं, [तेन कर्म न जनितं] उस जीव ने कर्म नहीं उत्पन्न किये, [कर्मणा अपि जीवः नैव जनितः] कर्मों ने भी जीव नहीं उपजाया, [येन द्वयोःअपि] क्योंकि दोनों का ही [आदिः न] आदि नहीं है ।

सभी जीवों का प्राण कर्म

एहु ववहारेँ जीवउउ हेउ लहेविणु कम्मु

बहुविह-भावेँ परिणवइ तेण जि धम्मु-अहम्मु ॥60॥

अन्वयार्थ : [एष जीवः व्यवहारेण] यह जीव उपचार से [कर्म हेतुं लब्ध्वा] कर्मरूप कारण को पाकर [बहुविधभावेन परिणमित] अनेक विकल्परूप परिणमता है । [तेन एव धर्मः अधर्मः] इसी से पुण्य और पाप रूप होता है ।

कर्म के कारण जीव को स्वभाव-लाभ नहीं

ते पुणु जीवहँ जोइया अट्ठ वि कम्म हवंति ।
जेहिँ जि झंपिय जीव णवि अप्प-सहाउ लहंति ॥61॥

अन्वयार्थ : [योगिन्] हे योगी, [तानि पुनः कर्माणि] वे फिर कर्म [जीवानांअष्टौ अपि] जीवों के आठ ही [भवन्ति] होते हैं, [यैः एव झंपिताः] जिन कर्मों से ही आच्छादित (ढँके हुए) [जीवाः] ये जीव [आत्मस्वभावं] अपने सम्यक्त्वादि आठ गुणरूप स्वभाव को [नैव लभन्ते] नहीं पाते ।

विषय-कषायों में लिप्तता से कर्म-बंध

विसय-कसायहिँ रंगियहँ ते अणुया लग्गंति ।
जीव-पएसेहँ मोहियहँ ते जिण कम्म भणंति ॥62॥

अन्वयार्थ : [विषयकषायैः रञ्जितानां] विषय-कषायों में लिप्त [मोहितानां] मोही जीवों के [जीवप्रदेशेषु] जीव के प्रदेशों में [ये अणवः लगंति] जो परमाणु लगते (बँधते) हैं, [तान्] उन्हे (उन स्कंधों को) [जिनाः कर्म भणंति] जिनेन्द्रदेव कर्म कहते हैं ।

इन्द्रियाँ, मन, समस्त विभाव, दुःख कर्म-जनित

पंच वि इंदिय अण्णु मणु अण्णु वि सयल-विभाव ।
जीवहँ कम्मइँ जणिय जिय अण्णु वि चउगइ-ताव ॥63॥

अन्वयार्थ : [पंचापि इन्द्रियाणि अन्यत्] पाँचों ही इन्द्रियाँ भिन्न हैं, [मनः अपि सकलविभावः] मन और समस्त विभाव परिणाम [अन्यत्] अन्य हैं, [चतुर्गतितापाः अपि] तथा चारों गतियों के दुःख भी [अन्यत्] अन्य हैं, [जीव] हे जीव, ये सब [जीवानां] जीवों के [कर्मणा जनिताः] कर्म-जनित हैं ।

परमार्थ से दुःख-सुख कर्म जनित

दुक्खु वि सुक्खु वि बहु-विहउ जीवहँ कम्मु जणेइ ।
अप्पा देक्खइ मुणइ पर णिच्छउ एउँ भणेइ ॥64॥

अन्वयार्थ : [जीवानां बहुविधं] जीवों को अनेक प्रकार के [दुःखमपि सुखं अपि] दुःख और सुख दोनों ही [कर्म जनयति] कर्म उपजाता है; [आत्मा पश्यति] आत्मा देखता [परं मनुते] और जानता है, [एवं निश्चयः] इस प्रकार परमार्थ [भणति] कहता है ।

जिन्वचन को नहीं मानने का परिणाम

सो णत्थि त्ति पएसो चउरासी-जोणि-लक्ख-मज्झम्मि ।
जिण वयणं ण लहंतो जत्थ ण डुलुडुल्लिओ जीवो ॥65-1॥

अन्वयार्थ : [स नास्ति प्रदेशः इति प्रदेश:] ऐसा कोई भी प्रदेश (स्थान) नहीं है, कि [यत्र चतुरशीतियोनिलक्षमध्ये] जिस जगह चौरासी लाख योनियों में होकर [जिनवचनं न लभमानः] जिन-वचन को नहीं प्राप्त करता हुआ [जीवः न भ्रमितः] यह जीव नहीं भटका ।

परमार्थ से बन्ध और मोक्ष कर्मजनित

बंधु वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहँ कम्मु जणेइ ।
अप्पा किंपि वि कुणइ णवि णिच्छउ एउँ भणेइ ॥65॥

अन्वयार्थ : [जीव] हे जीव ! [बंधमपि मोक्षमपि] बंध भी और मोक्ष भी [सकलं जीवानां] समस्त जीवों के [कर्म जनयति] कर्म-जनित है, [आत्मा किमपि] आत्मा कुछ भी [नैव करोति] नहीं करता, [एवं निश्चयः भणति] ऐसा परमार्थ कहता है ।

कर्म द्वारा ही जीव के लोक में भ्रमण

अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ ।
भुवणत्तयहँ वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ ॥66॥

अन्वयार्थ : हे जीव, यह आत्मा [पङ्गोः अनुहरति] पंगु के समान है, आप [न याति] न कहीं जाता है, [न आयाति] न आता है [भुवनत्रयस्य अपि मध्ये] तीनों लोक में इस जीव को [विधिः नयति] कर्म ही ले जाता है, [विधिः आनयति] कर्म ही ले आता है ।

द्रव्य-रूप परिवर्तित नहीं होता

अप्पा अप्पु जि परु जि परु अप्पा परु जि ण होइ ।
परु जि कयाइ वि अप्पु णवि णियमेँ पभणहिं जोई ॥67॥

अन्वयार्थ : आत्मा आत्मा ही है, पर (देहादि) पर ही हैं, आत्मा पर नहीं [भवति] होता, [पर एव] पर भी [कदाचिदपि] कभी भी आत्मा [नैव] नहीं होता, ऐसा [नियमेन योगिनः प्रभणन्ति] निश्चय से योगी कहते हैं ।

जीव के जन्म-मरण बंध-मोक्ष नहीं

ण वि उप्पज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ ।
जिउ परमत्थेँ जोइया जिणवरु एउँ भणेइ ॥68॥

अन्वयार्थ : [योगिन् परमार्थेन] हे योगी, परमार्थ से [जीवः नापि उत्पद्यते] जीव न तो उत्पन्न होता है, [नापि म्रियते] न मरता है [च न बन्धं मोक्षं] और न बंध-मोक्ष को [करोति] करता [एवं जिनवरः भणति] ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं ।

जीव के जन्म-मरण-रोग, इन्द्रियाँ, वर्ण नहीं

अत्थि ण उब्भउ जर-मरणु रोय वि लिंग वि वण्ण ।
णियमिं अप्पु वियाणि तुहुँ जीवहँ एक्क वि सण्ण ॥69॥

अन्वयार्थ : [आत्मन्] हे जीव [जीवस्य उद्भवः न अस्ति] जीव के जन्म नहीं है, [जरामरणंः रोगाः अपि] जरा (बुढ़ापा), मरण, रोग [लिंगान्यपि वर्णाः] इन्द्रियाँ, वर्ण [एका संज्ञा अपि] (आहारादिक) एक भी संज्ञा नहीं है [त्वं नियमेन विजानीहि] तू निश्चय जान ।

जन्म-बुढापा-मरण, रोग, वर्ण देह के

देहहँ उब्भउ जर-मरणु देहहँ वण्णु विचित्तु ।
देहहँ रोय वियाणि तुहुँ देहहँ लिंगु विचित्तु ॥70॥

अन्वयार्थ : [त्वं देहस्य उद्भवः] तू देह के जन्म, [जरामरणं] बुढापा, मरण, [देहस्य विचित्रः वर्णाः] देह के अनेक तरह के (लाल-पीले आदि पाँच अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चार) वर्ण, [देहस्य रोगान्] देह के (वात-पित्त आदि अनेक) रोग [देहस्य विचित्रम् लिंङ्गं] देह के अनेक प्रकार के (स्त्री, पुरुष आदि अथवा यति अथवा इन्द्रिय और मन) लिंग को [विजानीहि] जान ।

जीव को अमर जानकर भय-मुक्त हो

देहहँ पेक्खिवि जर-मरणु मा भउ जीव करेहि ।
जो अजरामरु बंभु परु सो अप्पाणु मुणेहि ॥71॥

अन्वयार्थ : [जीव] हे जीव, [देहस्य जरामरणं] देह के बुढ़ापा या मरने को [दृष्टवा भयं मा कार्षीः] देखकर डर मत कर [यः अजरामरः] जो अजर-अमर [परः ब्रह्म] परम-ब्रह्म है, [तं आत्मानं मन्यस्व] उसको तू आत्मा जान ।

शरीर से ममत्व त्यागकर आत्मा को ध्या

छिज्जउ भिज्जउ जाउ खउ जोइय एहु सरीरु ।
अप्पा भावहि णिम्मलउ जिं पावहि भव-तीरु ॥72॥

अन्वयार्थ : [योगिन् इदं शरीरम् छिद्यतां] हे योगी, यह शरीर छिद जावे, [भिद्यतां] अथवा भिद जावे, [क्षयं यातु] नाश को प्राप्त होवे, [निर्मलं आत्मानं भावय] निर्मल आत्मा का ही ध्यान कर, [येन भवतीरम्] जिससे भवसागर का पार [प्राप्नोषि] पायेगा ।

पर-भाव और पर द्रव्य जीव स्वभाव से भिन्न

कम्महँ केरा भावडा अण्णु अचेयणु दव्वु ।
जीव-सहावहँ भिण्णु जिय णियमिं बुज्झहि सव्वु ॥73॥

अन्वयार्थ : हे जीव, [कर्मणः संबन्धिनः भावाः] कर्मों से सम्बंधित भाव और [अन्यत् अचेतनं द्रव्यम्] पर शरीरादिक अचेतन द्रव्य [सर्वम् नियमेन] इन सबको नियम से [जीवस्वभावात् भिन्नं बुध्यस्व] जीव-स्वभाव से भिन्न जानो ।

ज्ञानमयी भाव को छोड़कर अन्य सभी भाव को त्याग

अप्पा मेल्लिवि णाणमउ अण्णु परायउ भाउ ।
सो छंडेविणु जीव तुहुँ भावहि अप्प-सहाउ ॥74॥

अन्वयार्थ : [ज्ञानमयं आत्मानं मुक्तवा] ज्ञानमयी आत्मा को छोड़कर [अन्यः परः भावः] अन्य जो पर भाव हैं, [जीव त्वं तं छंडयित्वा] हे जीव तू उनको छोड़कर [आत्मस्वभावम् भावय] आत्म-स्वभाव का चितंवन कर ।

रत्नत्रयमयी आत्मा का ध्यान कर

अट्ठहँ कम्महँ बाहिरउ सयलहँ दोसहँ चत्तु ।
दंसण-णाण-चरित्तमउ अप्पा भावि णिरुत्तु ॥75॥

अन्वयार्थ : [अष्टभ्यः कर्मभ्यः बाह्यं] आठ कर्मों से रहित [सकलैः दोषैः त्यक्तम्] सब दोषों को त्यागकर [दर्शनज्ञानचारित्रमयं आत्मानं निश्चितम् भावय] सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप निश्चितम् आत्मा का निश्चय से चिंतवन कर ।

सम्यग्दृष्टि

अप्पिं अप्पु मुणंतु जिंउ सम्मादिट्ठि हवेइ ।
सम्माइट्ठिउ जीवडउ लहु कम्मइँ मुच्चेइ ॥76॥

अन्वयार्थ : [आत्मानं आत्मना] अपने को अपने से [जानन् जीवः] जाननेवाला जीव [सम्यग्दष्टिः भवति] सम्यग्दृष्टि होता है, [सम्यग्दृष्टिः जीवः] और सम्यग्दृष्टि जीव [लघु कर्मणा मुच्यते] जल्दी कर्मों से छूट जाता है ॥७६॥

मिथ्यादृष्टि

पज्जय-रत्तउ जीवडउ मिच्छादिट्ठि हवेइ ।
बंधउ बहु-विह-कम्मडा जेँ संसारु भमेइ ॥77॥

अन्वयार्थ : [पर्यायरक्तः जीवः] पर्याय में लीन जीव [मिथ्यादृष्टिः भवति] मिथ्यादृष्टि होता है, वह [बहुविधकर्माणि बध्नाति] अनेक प्रकार के कर्मों को बाँधता है, [येन संसारं भ्रमति] जिनसे संसार में भ्रमण करता है ॥७७॥

कर्म बलवान हैं

कम्मइँ दिढ-घण-चिक्कणइँ गरुवइँ वज्ज-समाइँ ।
णाण-वियक्खणु जीवडउ उप्पहि पाडहिँ ताइँ ॥78॥

अन्वयार्थ : [ज्ञानविचक्षणं जीवं] ज्ञानी चतुर जीवों को [उत्पथे पातयंति] खोटे मार्ग में पटकने वाले [तानि कर्माणि] वे कर्म [दृढघनचिक्कणानि] बलवान हैं, बहुत हैं, चिकने (विनाश करने को अशक्य) हैं, [गुरुकाणि वज्रसमानि] भारी हैं, और वज्र के समान अभेद्य हैं ॥७८॥

मिथ्यात्वी का लक्षण

जिउ मिच्छत्तेँ परिणमिउ विवरिउ तच्चु मुणेई ।
कम्म-विणिम्मिय भावडा ते अप्पाणु भणेइ ॥79॥

अन्वयार्थ : [मिथ्यात्वेन परिणतः जीवः] मिथ्यात्व-रूप परिणत हुआ जीव [तत्त्वं विपरीतं मनुते] तत्त्व को विपरीत मानता हुआ, [कर्मविनिर्मितान् भावान्] कर्मों से रचे गये भाव [तान् आत्मानं भणति] उनको अपने कहता है ।

मिथ्यात्वी की मान्यता

हउँ गोरउ हउँ सामलउ हउँ जि विभिण्णउ वण्णु ।
हउँ तणु-अंगउँ थूलु हउँ एहउँ मूढउ मण्णु ॥80॥

अन्वयार्थ : [अहं श्यामः] मैं काला, [अहमेव विभिन्नः वर्णः] मैं ही अनेक वर्णवाला, [अहं तन्वंगः] मैं दुबला, [अहं स्थूलः] मैं मोटा, [एतं मूढं मन्यस्व] यह मूढ की मान्यता है ।

और भी

हउँ वरु बंभणु वइसु हउँ हउँ खत्तिउ हउँ सेसु ।
पुरिसु णउँसर इत्थि हउँ मण्णइ मूढु विसेसु ॥81॥

अन्वयार्थ : [अहं वरः ब्राह्मणः] मैं सबमें श्रेष्ठ ब्राह्मण, [वैश्यः अहं] मैं वणिक्, [अहं क्षत्रियः] मैं क्षत्रिय, [अहं शेषः] मैं शूद्र, [पुरुषः नपुंसकः स्त्री अहं] मैं पुरुष, स्त्री, नपुंसक [मूढः विशेषम् मनुते] मिथ्यादृष्टि अपने को इन भेदरूप मानता है ।

और भी

तरुणउ बूढउ रूयडउ सूरउ पंडिउ दिव्वु ।
खवणउ वंदउ सेवडउ मूढउ मण्णइ सव्वु ॥82॥

अन्वयार्थ : [तरुणः वृद्धः रूपस्वी शूरः] मैं जवान, बुड्ढा, रूपवान, शूरवीर, [पण्डितः दिव्यः क्षपणकः] पंडित, सबमें श्रेष्ठ, दिगंबर [वन्दकः श्वेतपटः] बौद्ध-आचार्य, श्वेताम्बर, इत्यादि [सर्वम् मूढ़ः मन्यते] सब
मूढ़ मान्यता है ।

और भी

जणणी जणणु वि कंत घरु पत्तु वि मित्तु वि दव्वु ।
माया-जालु वि अप्पणउ मूढउ मण्णइ सव्वु ॥83॥

अन्वयार्थ : [जननी जननः अपि कान्ता] माता, पिता भी, स्त्री, [गृहं पुत्रः अपि मित्रमपि] घर, बेटा भी मित्र भी [द्रव्यं सर्व मायाजालमपि] धन, सर्व मायाजाल को [मूढ़ः आत्मीयं मन्यते] अज्ञानी अपना मानता है ।

अज्ञान ही पाप

दुक्खहँ कारणि जे विसय ते सुह-हेउ रमेइ ।
मिच्छाइट्ठिउ जीवडउ इत्थु ण काइँ करेइ ॥84॥

अन्वयार्थ : [दुःखस्य कारणं] दुःख के कारण [ये विषयाः] जो इन्द्रिय-विषय, [तान् सुखहेतुन्] उनको सुख के कारण जानकर [रमते मिथ्यादृष्टिः जीवः] रमण करता है, वह मिथ्यादृष्टि जीव [अत्र किं न करोति] इस संसार में क्या पाप नहीं करता ?

सम्यक्त्व की प्राप्ति

कालु लहेविणु जोइया जिमु जिमु मोहु गलेइ ।

तिमु तिमु दंसणु लहइ जिउ णियमेँ अप्पु मुणेइ ॥85॥

अन्वयार्थ : [योगिन् कालं लब्धवा] हे योगी, काल पाकर [यथा यथा मोहः गलति] जैसे जैसे मोह गलता है, [तथा तथा जीवः] तैसे तैसे [दर्शनं लभते] सम्यग्दर्शन की प्राप्त द्वारा, [नियमेन आत्मानं मनुते] नियम से अपने (स्वरूप) को जानता है ।

आत्मा स्पर्श या वर्ण नहीं

अप्पा गोरउ किण्हु ण वि अप्पा रत्तु ण होइ ।

अप्पा सुहुमु वि थूलु ण वि णाणिउ जाणेँ जोइ ॥86॥

अन्वयार्थ : [आत्मा गौरः कृष्णः नापि] आत्मा सफेद, काला नहीं, [आत्मा रक्तः न भवति] आत्मा लाल नहीं, [आत्मा सूक्ष्मः अपि स्थूलः नैव] आत्मा सूक्ष्म और स्थूल भी नहीं ऐसा [ज्ञानी ज्ञानेन पश्यति] ज्ञानी पुरुष ज्ञान द्वारा देखता है ।

आत्मा के वर्ण या लिंग नहीं

अप्पा बंभणु वइसु ण वि ण वि खत्तिउ ण वि सेसु ।

पुरिसु णउंसउ इत्थि ण वि णाणिउ मुणइ असेसु ॥87॥

अन्वयार्थ : [आत्मा ब्राह्मणः वैश्यः नापि] आत्मा ब्राह्मण, वैश्य भी नहीं, [क्षत्रियः नापि] क्षत्रिय भी नहीं, [शेषः नापि] शुद्र भी नहीं, [पुरुषः नपुंसकः स्त्री नापि] पुरुष, नपुंसक, स्त्रीलिंगरूप भी नहीं, [ज्ञानी अशेषम् मनुते] ज्ञानी अपने को कुछ और ही जानता है ।

आत्मा के वेष नहीं

अप्पा वंदउ खवणु ण वि अप्पा गुरउ ण होइ ।

अप्पा लिंगिउ एक्कु ण वि णाणिउ जाणइ जोइ ॥88॥

अन्वयार्थ : [आत्मा वन्दकः क्षपणः नापि] आत्मा बौद्ध-आचार्य नहीं, दिगंबर, [आत्मा गुरवः न भवति] आत्मा श्वेताम्बर भी नहीं होती, [आत्मा एकः अपि लिंगी न] आत्मा कोई भी वेश-धारी नहीं, [ज्ञानी योगी जानाति] मात्र ज्ञान है, ऐसा योगी जानता है ।

आत्मा गुरु-शिष्यादिक भी नहीं

अप्पा गुरु णवि सिस्सु णवि णवि सामिउ णवि भिच्चु ।

सूरउ कायरु होइ णवि णवि उत्तमु णवि णिच्चु ॥89॥

अन्वयार्थ : [आत्मा गुरुः नैव] आत्मा गुरु नहीं, [शिष्य नैव] शिष्य नहीं, [स्वामी नैव भृत्यः नैव] स्वामी नहीं, नौकर नहीं, [शूरः कातरः नैव] शूरवीर नहीं, कायर नहीं, [उत्तमः नैव नीचः नैव भवति] उच्चकुली नहीं, और नीचकुली भी नहीं है ।

आत्मा मनुष्य-देव आदि नहीं

अप्पा माणुसु देउ ण वि अप्पा तिरिउ ण होइ ।

अप्पा णारउ कहिँ वि णवि णाणिउ जाणइ जोइ ॥90॥

अन्वयार्थ : [आत्मा मनुष्यः देवः नापि] आत्मा मनुष्य नहीं, देव नहीं, [आत्मा तिर्यग् न भवति] आत्मा पशु नहीं होता, [आत्मा नारकः क्वापि नैव] आत्मा नारकी भी कभी नहीं, [ज्ञानी योगी जानाति] ज्ञानी योगी जानते हैं ।

आत्मा पंडित मूर्ख आदि नहीं

अप्पा पंडिउ मुक्खु णवि णवि ईसरु णवि णीसु ।

तरुणउ बूढउ बालु णवि अण्णु वि कम्म-विसेसु ॥91॥

अन्वयार्थ : [आत्मा पंडितः मूर्खः नैव] आत्मा पंडित व मूर्ख नहीं, [ईश्वरः नैव निःस्वः नैव] धनवान् नहीं दरिद्री भी नहीं, [तरुणः वृद्धः बालः] जवान, बूढ़ा और बालक, [अन्यः अपि कर्म विशेषः नैव] अन्य भी जो कर्म के उदय से विशेषता होती है, वह भी नहीं ।

आत्मा पुण्य-पापादि नहीं

पुण्णु वि पाउ वि कालु णहु धम्माधम्मु वि काउ ।

एक्कु वि अप्पा होइ णवि मेल्लिवि चेयण-भाउ ॥92॥

अन्वयार्थ : [चेतनभावम् मुक्तवा] चेतनभाव को छोड़कर [पुण्यमपि पापमपि] पुण्य भी, पाप भी [कालः नभः धर्माधर्ममपि कायः] काल, आकाश, धर्म, अधर्म-द्रव्य, शरीर [एक अपि आत्मा नैव भवति] एक भी आत्मा नहीं होता ।

आत्मा क्या है?

अप्पा संजमु सीलु तउ अप्पा दंसणु णाणु ।

अप्पा सासय-मोक्ख-पउ जाणंतउ अप्पाणु ॥93॥

अन्वयार्थ : [आत्मा संयमः शीलं तपः] आत्मा ही संयम, शील, तप, [आत्मा दर्शनं ज्ञानम्] आत्मा दर्शन-ज्ञान है, [आत्मानम् जानन् आत्मा] अपने को जानता हुआ आत्मा [शाश्वतमोक्षपदं] अविनाशी मोक्षपद है ।

आत्मा ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र

अण्णु जि दंसणु अत्थि ण वि अण्णु जि अत्थि ण णाणु ।

अण्णु जि चरणु ण अत्थि जिय मेल्लिवि अप्पा जाणु ॥94॥

अन्वयार्थ : [जीव आत्मानं मुक्तवा] हे जीव, आत्मा को छोड़कर [अन्यदपि दर्शनं न एव] दूसरा कोई भी दर्शन नहीं, [अन्यदपि ज्ञानं न अस्ति] अन्य कोई ज्ञान नहीं होता, [अन्यद् एव चरणं नास्ति] अन्य कोई चरित्र नहीं है, ऐसा [जानीहि] जान ।

आत्मध्यान किसी तीर्थ, गुरु, देव से भी उत्कृष्ट

अण्णु जि तित्थु म जाहि जिय अण्णु जि गुरुउ म सेवि ।

अण्णु जि देउ म चिंति तुहुँ अप्पा विमलु मुएवि ॥95॥

अन्वयार्थ : [जीव आत्मानं विमलं मुक्तवा] हे जीव निर्मल आत्मा को छोड़कर [त्वं अन्यद् एव] तू दूसरे [तीर्थं मायाहि] तीर्थ को मत जा, [अन्यद् एव गुरुं मा सेवस्व] दूसरे गुरु को मत सेव, [अन्यद् एव देवं मा चिन्तय] अन्य देव को मत ध्या ।

आत्मा ही दर्शन

अप्पा दंसणु केवलु वि अण्णु सव्वु ववहारु ।

एक्कु जि जोइय झाइयइ जो तइलोयहँ सारु ॥96॥

अन्वयार्थ : [केवलः आत्मा अपि दर्शनं] केवल आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, [अन्यः सर्वः व्यवहारः] दूसरा सब व्यवहार है, [योगिन् एक एव ध्यायते] हे योगी एक आत्मा ही ध्याने योग्य है, [यः त्रैलोक्यस्य सारः] जो कि तीन लोक में सार है ।

आत्मध्यान से क्षणमात्र में मुक्ति

अप्पा झायहि णिम्मलउ किं बहुएँ अण्णेण ।

जो झायंतहँ परम-पउ लब्भइ एक्क-खणेण ॥97॥

अन्वयार्थ : [निर्मलं आत्मानं ध्यायस्व] निर्मल आत्मा का ही ध्यानकर, [अन्येन बहुना किं] और बहुत पदार्थों से क्या ? [यं ध्यायमानानां एकक्षणेन] जिस परमात्मा के ध्यान करनेवालों को क्षणमात्र में [परमपदं लभ्यते] मोक्षपद मिलता है ।

आत्म-ज्ञान बिना ज्ञान तप निष्फल

अप्पा णिय-मणि णिम्मलउ णियमेँ वसइ ण जासु ।

सत्थ-पुराणइँ तव-चरणु मुक्खु वि करहिँ कि तासु ॥98॥

अन्वयार्थ : [यस्य निजमनसि] जिसके अपने मन में [निर्मलः आत्मा] निर्मल आत्मा [नियमेन न वसति] निश्चय से नहीं रहता, [तस्य शास्त्रपुराणानि तपश्चरणमपि] उसके शास्त्र, पुराण, तपस्या भी [किं मोक्षं कुर्वंति] क्या मोक्ष को कर सकते हैं ?

आत्मज्ञान से केवलज्ञान

जोइय अप्पेँ जाणिएण जगु जाणियउ हवेइ ।

अप्पहँ केरइ भावडइ बिंबिउ जेण वसेइ ॥99॥

अन्वयार्थ : [योगिन् आत्मना ज्ञातेन] हे योगी आत्मा के जानने से [जगत् ज्ञातं भवति] जगत का जानना होता है, [आत्मनः संबन्धिनि भावे] आत्मा से सम्बंधित भाव (स्वभाव, केवलज्ञान) में [बिम्बितं येन वसति] (जगत) बिम्बित हुआ बसता है ।

उसी को दृढ़ करते हैं

अप्प-सहावि परिट्ठियह एहउ होइ विसेसु ।

दीसइ अप्प-सहावि लहु लोयालोउ असेसु ॥100॥

अन्वयार्थ : [आत्मस्वभावे प्रतिष्ठितानां] आत्मा के स्वभाव में लीन हुए पुरुषों के [एष विशेषः भवति] यह विशेषता होती है, कि [आत्मस्वभावे] आत्म-स्वभाव में उनको [अशेषः लोकालोकः] समस्त लोकालोक [लघु दृश्यते] शीघ्र ही दिख जाता है ।

केवलज्ञान का स्वभाव

अप्पु पयासइ अप्पु परु जिम अंबरि रवि-राउ ।

जोइय एत्थु म भंति करि एहउ वत्थु-सहाउ ॥101॥

अन्वयार्थ : [यथा अंबरे रविरागः] आकाश में सूर्य का प्रकाश के जैसे [आत्मा आत्मानं परं प्रकाशयति] आत्मा अपने और पर पदार्थों को प्रकाशता है, [योगिन् अत्र] हे योगी इसमे [भ्रान्तिं मा कुरु] संदेह मत कर, [एष वस्तुस्वभावः] ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है ।

उदाहरण

तारायणु जलि बिंबियउ णिम्मलि दीसइ जेम ।

अप्पए णिम्मलि बिंबियउ लोयालोउ वि तेम ॥102॥

अन्वयार्थ : [तारागणः निर्मले जले] जैसे ताराओं का समूह निर्मल जल में [बिम्बितः दृश्यते यथा] प्रतिबिम्बित हुआ दिखता है जैसे, [तथा निर्मले आत्मनि] उसी प्रकार निर्मल आत्मा में [लोकालोकं अपि] भी लोक-अलोक (भासते हैं) ।

उपसंहार

अप्पु वि परु वि वियाणइ जेँ अप्पेँ मुणिएण ।

सो णिय-अप्पा जाणि तुहुँ जोइय णाण-बलेण ॥103॥

अन्वयार्थ : [येन आत्मना विज्ञातेन] जिस आत्मा को जानने से [आत्मा अपि परः अपि विज्ञायते] आप और पर सब पदार्थ जाने जाते हैं, [तं निजात्मानं] उस अपने आत्मा को [योगिन् त्वं] हे योगी तू [ज्ञानबलेन जानीहि] ज्ञान के बल से जान ।

प्रश्न

णाणु पयासहि परमु महु किं अण्णेँ बहुएण ।

जेण णियप्पा जाणियइ सामिय एक्क-खणेण ॥104॥

अन्वयार्थ : [स्वामिन् येन ज्ञानेन] हे भगवान् जिस ज्ञान से [एकक्षणेन निजात्मा ज्ञायते] क्षणभर में अपनी-आत्मा जानी जाती है, वह [परमं ज्ञानं मम प्रकाशय] परम ज्ञान मेरे प्रकाशित करिए, [अन्येन बहुना किं] और बहुत विकल्प-जालों से क्या ?

आत्मा का संस्थान

अप्पा णाणु मुणेहि तुहुँ जो जाणइ अप्पाणु ।
जीव-पएसहिँ तित्तिडउ णाणेँ गयण-पवाणु ॥105॥

अन्वयार्थ : [त्वं आत्मानं] तू आत्मा को ही [ज्ञानं मन्यस्व] ज्ञान जान [यः आत्मानम्] जो आत्मा [जीवप्रदेशैः तावन्मात्रं] जीव-प्रदेशों से शरीर-प्रमाण [ज्ञानेन गगनप्रमाणम्] ज्ञान से आकाश-प्रमाण है ।

पर भावों को छोड़

अप्पहँ जे वि विभिण्ण वढ ते वि हवंति ण णाणु ।
ते तुहुँ तिण्णि वि परिहरिवि णियमिँ अप्पु वियाणु ॥106॥

अन्वयार्थ : [आत्मनः ये अपि विभिन्नाः] आत्मा से जो जुदे हैं [वत्स] हे शिष्य, [तेऽपि ज्ञानम् न भवंति] वे भी ज्ञान नहीं हैं, [तान् त्वं त्रीणि अपि] तुम उन तीनों (धर्म, अर्थ, कामरूप भावों) को [परिहृत्य नियमेन] छोड़कर निश्चय से [आत्मानं विजानीहि] आत्मा को जान ।

आत्मा ज्ञान गोचर

अप्पा णाणहँ गम्मु पर णाणु वियाणइ जेण ।
तिण्णि वि मिल्लिवि जाणि तुहुँ अप्पा णाणेँ तेण ॥107॥

अन्वयार्थ : [आत्मा ज्ञानस्य गम्यः] आत्मा ज्ञान द्वारा गोचर है, [पर: ज्ञानं विजानाति येन] जैसे पर को ज्ञान जानता है, [तेन त्वं] इसलिये तू [त्रीणि अपि मुक्तवा] तीनों (धर्म, अर्थ, काम) ही भावों को छोड़कर [ज्ञानेन आत्मानं जानीहि] ज्ञान से निज आत्मा को जान ।

परलोक -- आत्मा से परमात्मा

णाणिय णाणिउ णाणिएण णाणिउँ जा ण मुणेहि ।
ता अण्णाणिं णाणमउँ किं पर बंभु लहेहि ॥108॥

अन्वयार्थ : [ज्ञानिन् ज्ञानी ज्ञानिना ज्ञानिनं] हे ज्ञानी ! आत्मा को ज्ञान द्वारा आत्मा के लिए [यावत् न जानासि] जब तक नहीं जानता, [तावद् अज्ञानेन] तब तक अज्ञानी होने से [ज्ञानमयं परं ब्रह्म] ज्ञानमय परमात्मा को [किं लभसे] क्या पा सकता है ?

परलोक -- अपना स्वरूप जानना

जोइज्जइ तिं बंभु परु जाणिज्जइ तिं सोइ ।
बंभु मुणेविणु जेण लहु गम्मिज्जइ परलोइ ॥109॥

अन्वयार्थ : [तेन परः ब्रह्मा दृश्यते] उनसे शुद्धात्मा देखा जाता है, [तेन स एव ज्ञायते] उनसे वही (शुद्धात्मा) जाना जाता है, [येन ब्रह्म मत्वा] इससे अपना स्वरूप जानकर [परलोके लघु गम्यते] परलोक को शीघ्र ही प्राप्त होता है ।

परलोक -- ध्यान का ध्येय

मुणि-वर-विंदहँ हरि-हरहं जो मणि णिवसइ देउ ।
परहँ जि परतरु णाणमउ सो वुच्चइ पर-लोउ ॥110॥

अन्वयार्थ : [यः मुनिवरवृन्दानां हरिहराणां] जो मुनिश्वरों के समूह के तथा इन्द्र, वासुदेव, रुद्रों के [मनसि निवसति] चित्त में बस रहा है, [सः परस्माद् अपि परतरः] वह उत्कृष्ट से भी उत्कृष्ट [ज्ञानमयः परलोकः उच्यते] ज्ञानमयी परलोक कहा जाता है ।

जैसी मति वैसी गति

सो पर वुच्चइ लोउ परु जसु मइ तित्थु वसेइ ।
जहिँ मइ तहिँ गइ जीवह जि णियमेँ जेण हवेइ ॥111॥

अन्वयार्थ : [यस्य मतिः तत्र वसति] जिसकी बुद्धि उस (निज-आत्म स्वरूप) में बसती है, [स परः] वह पुरुष [परः लोकः] परलोक (उत्कृष्ट जन) [उच्यते] कहा जाता है [येन यत्र मतिः] क्योंकि जैसी बुद्धि होती है, [तत्र एव जीवस्य गतिः] वैसी ही जीव की गति [नियमेन भवति] नियम से होती है ।

पर-द्रव्य को मत देख

जहिँ मइ तहिँ गइ जीव तहुँ मरणु वि जेण लहेहि ।
तेँ परबंभु मुएवि मइँ मा पर-दव्वि करेहि ॥112॥
अन्वयार्थ : [जीव यत्र मतिः] हे जीव ! जहाँ तेरी बुद्धि है, [तत्र गतिः] उसी ओर गति है, [येन त्वं मृत्वा लभसे] वैसा ही तू मरकर पावेगा, [तेन परब्रह्म मुक्तवा] इसलिये शुद्धात्मा को छोड़कर [परद्रव्ये मतिं मा कार्षीः] पर-द्रव्य में बुद्धि को मत कर ।

पर-द्रव्य

जं णियदव्वहँ भिण्णु जडु तं परदव्वु वियाणि ।
पुग्गलु धम्माधम्मु णहु कालु वि पंचमु जाणि ॥113॥
अन्वयार्थ : [यत् निजद्रव्याद् भिन्नं] जो आत्म-पदार्थ से जुदा [जडं तत् परद्रव्यं जानीहि] जड़, उसे परद्रव्य जानो वे [पुद्गलः धर्माधर्मः नभः कालं अपि पंचमं] पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और पाँचवाँ काल [जानीहि] (ये सब पर-द्रव्य) जानो ।

ध्यान की सामर्थ्य

जइ णिविसद्धु वि कु वि करइ परमप्पइ अणुराउ ।
अग्गि-कणी जिम कट्ठ-गिरि डहइ असेसु वि पाउ ॥114॥
अन्वयार्थ : [यदि निमिषार्धमपि कोऽपि] जो आधे निमेषमात्र भी [परमात्मनि अनुरागम् करोति] कोई परमात्मा में प्रीति करे तो [यथा अग्निकणिका] जैसे अग्नि की कणी [काष्ठगिरिं दहति] काठ के पहाड़ को भस्म करती है, उसी तरह [अशेषम् अपि पापम्] सब ही पापों को भस्म कर डाले ।

चिंता रहित होकर देख

मेल्लिवि सयल अवक्खडी जिय णिच्चिंतउ होइ ।
चित्तु णिवेसहि परमपए देउ णिरंजणु जोइ ॥115॥
अन्वयार्थ : [जीव सकलां चिन्तां मुक्त्वा] हे जीव समस्त चिंताओं से मुक्त [निश्चिन्तः भूत्वा] निश्चिन्त होकर [चित्तं परमपदे निवेशय] मन को परमपद में लगा, और [निरंजनं देवं पश्य] निरंजन देव को देख ।

आत्म-ध्यान के बिना सुख सम्भव नहीं

जं सिव-दंसणि परम-सुहु पावहि झाणु करंतु ।
तं सुहु भुवणि वि अत्थि णवि मेल्लिवि देउ अणंतु ॥116॥
अन्वयार्थ : [यत् ध्यानं कुर्वन्] जिसके ध्यान करने से [शिवदर्शने परमसुखं प्राप्नोषि] मुक्ति दर्शन का अत्यंत सुख पाया जाता है, [तत् सुखं भुवने अपि] वह सुख तीन-लोक में भी [देवं मुक्त्वा अनन्तम्] परमात्म द्रव्य के सिवाय अन्य किसी में [नैव अस्ति] नहीं है ।

आत्म-ध्यानी के सुख के सामान सुख नहीं

जं मुणि लहइ अणंत-सुहु णिय-अप्पा झायंतु ।
तं सुहु इंदु वि णवि लहइ देविहिँ कोडि रमंतु ॥117॥
अन्वयार्थ : [निजात्मनं ध्यायन् मुनिः] अपनी आत्मा को ध्यावता मुनि [यत् अनन्तसुखं लभते] जिस अनंत-सुख को पाता है, [तत् सुखं

इन्द्रः अपि] उस सुख को इन्द्र भी [देवीनां कोटिं रम्यमाणः नैव लभते] करोड़ देवियों के साथ रमता हुआ नहीं पाता ।

आत्म-ध्यानी को भगवान जैसा सुख

अप्पा-दंसणि जिणवरहँ जं सुहु होइ अणंतु ।
तं सुहु लहइ विराउ जिउ जाणंतउ सिउ संतु ॥118॥

अन्वयार्थ : [आत्मदर्शने जिनवराणां] जिनेन्द्र को आत्म-दर्शन द्वारा [यत् अनन्तम् सुखं भवति] जैसा अनंत सुख होता है, [तत् सुखं विरागः जीवः] वह सुख विरागी जीव को [शिवं शांतं जानन् लभते] शांत मुक्त जानता हुआ पाता है ।

मोक्ष अपने आप में

जोइय णिय-मणि णिम्मलए पर दीसइ सिउ संतु ।
अंबरि णिम्मलि घण-रहिए भाणु जि जेम फुरंतु ॥119॥

अन्वयार्थ : [योगिन् निर्मले निजमनसि] हे योगी ! निर्मल अपने मन में [शिवःशांतः परं दृश्यते] शांत मोक्ष नियम से दिखता है [घनरिहते निर्मले अंबरे] बादल-रहित निर्मल आकाश में [भानुः इव स्फुरन् यथा] सूर्य के समान भासमान (प्रकाशमान) जैसे ।

राग-रंजित को मोक्ष-सुख नहीं

राएँ रंगिए हियवडए देउ ण दीसइ संतु ।
दप्पणि मइलए बिंबु जिम एहउ जाणि णिभंतु ॥120॥

अन्वयार्थ : [रागेन रंजिते हृदये] राग से रंजित हृदय में [शांतः देवः न दृश्यते] शांत आत्म-देव नहीं दिखता, [यथा मलिने दर्पणे] जैसे कि मैले दर्पण में [बिंबं एतत्] मुख नहीं भासता ऐसा [निर्भ्रान्तम् जानीहि] संदेह रहित जान ।

राग और सुख एक साथ नहीं रह सकते

जसु हरिणच्छी हियवडए तसु णवि बंभु वियारि ।
ऐक्कहिँ केम समंति वढ बे खंडा पडियारि ॥121॥

अन्वयार्थ : [यस्य हृदये हरियाक्षी वसति] जिसके चित्त में मृग के समान नेत्रवाली स्त्री बसती है [तस्य ब्रह्म नैव] उसके शुद्धात्मा नहीं है; [विचारय बत इकस्मिन् प्रतिकारे] विचार कर खेद की बात है कि एक म्यान में [द्वौखड्गो कथं समायातौ] दो तलवारें कैसे आ सकती हैं ?

भगवान आत्मा अनादि से

णिय-मणि णिम्मलि णाणियहँ णिवसइ देउ अणाइ ।
हंसा सरवरि लीणु जिम महु एहउ पडिहाइ ॥122॥

अन्वयार्थ : [ज्ञानिनां निर्मले निजमनसि] ज्ञानियों के मल-रहित निजमन में [अनादिः देवः निवसति] अनादि देव निवास करता है, [यथा सरोवरे लीनः हंसः] जैसे सरोवर में लीन हुआ हंस बसता है [मम एवं प्रतिभाति] मुझे ऐसा मालूम पड़ता है ।

वन्द्य-वंदक भाव रहित

मणु मिलियउ परमेसरहँ परमेसरु वि मणस्स ।
बीहि वि समरसि हूवाहँ पुज्ज चडावउँ कस्स ॥123-अ॥

अन्वयार्थ : [मनः परमेश्वरस्य] मन परमेश्वर में और [परमेश्वरः अपि मनसः मिलितं] परमेश्वर भी मन में मिल गया [द्वयोः अपि समरसीभूतयोः] दोनों ही को आपस में एकमएक होने पर [कस्य पूजां समारोपयामि] किसकी अब मैं पूजा करूँ ?

मन पर लगाम द्वारा मुक्ति प्राप्ति

जेण णिरंजणि मणु धरिउ विषय-कसायहिँ जंतु ।
मोक्खहँ कारणु एत्तडउ अण्णु ण तनु ण मंतु ॥123-ब॥

अन्वयार्थ : [येन विषयकषायेषु गच्छत् मनः] जिसने विषय कषायों में जाता हुआ मन [निरंजने धृतं एतावदेव] कर्मरूपी अंजन से रहित भगवान् में रक्खा वे ही [मोक्षस्य कारणं] मोक्ष के कारण हैं, [अन्यः तन्त्रं न मन्त्रः न] दूसरा कोई तंत्र नहीं और मंत्र नहीं ।

समभाव द्वारा सुख की प्राप्ति

देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति ।
अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ सम-चित्ति ॥1॥

अन्वयार्थ : [देवः] आत्मदेव [न देवकुले] देवालय (मंदिर) में नहीं, [शिलायां नैव] पाषाण की प्रतिमा में भी नहीं, [लेपे नैव] लेप में भी नहीं, [चित्रे नैव] चित्राम की मूर्ति में भी नहीं; [अक्षयः निरंजनः] अविनाशी, कर्माञ्जन से रहित, [ज्ञानमयः] केवलज्ञान से पूर्ण, [शिवः] मुक्त [समचित्ते संस्थितः] समभाव में तिष्ठता है ।

शिष्य द्वारा अनुरोध

सिरिगुरु अक्खहि मोक्खु महु मोक्खहँ कारणु तत्थु ।
मोक्खहँ केरउ अण्णु फलु जेँ जाणउँ परमत्थु ॥2॥

अन्वयार्थ : [श्रीगुरो मम मोक्षं] हे श्रीगुरु, मुझे मोक्ष [तथ्यम् मोक्षस्यकारणं] सत्यार्थ मोक्ष का कारण, [अन्यत् मोक्षस्य संबंधि] और मोक्ष का [फलं आख्याहि] फल कृपाकर कहो [येन परमार्थं जानामि] जिससे कि मैं परमार्थ को जानूँ ।

मोक्ष, मोक्ष का फल, मोक्ष का कारण करने की प्रतिज्ञा

जोइय मोक्खु वि मोक्ख-फ लु पुच्छिउ मोक्खहँ हेउ ।
सो जिण-भासिउ णिसुणि तुहुँ जेण वियाणहि भेउ ॥3॥

अन्वयार्थ : [योगिन् मोक्षोऽपि] हे योगी, तूने मोक्ष और [मोक्षफलं मोक्षस्य हेतुः] मोक्ष का फल तथा मोक्ष का कारण [पुष्टं तत्] पूछा, उसको [जिनभाषितं] जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे को [त्वं निशृणु] तू निश्चय से सुन, [येन भेदम् विजानासि] जिससे कि भेद अच्छी तरह जान जावे ।

मोक्ष ही सुख

धम्मह अत्थहँ कामहँ वि एयहँ सयलहँ मोक्खु ।
उत्तमु पभणहिँ णाणि जिय अण्णेँ जेण ण सोक्खु ॥4॥

अन्वयार्थ : [जीव धर्मस्य] हे जीव, धर्म के, [अर्थस्य] अर्थ के [कामस्य अपि]और काम के [एतेषां सकलानां] इन सब (पुरुषार्थों) में [मोक्षम् उत्तमं ज्ञानिनः] मोक्ष को उत्तम ज्ञानी [प्रभणंति] कहते हैं, [येन अन्येन] क्योंकि अन्य (धर्म, अर्थ, कामादि) में [सौख्यम् न] परम-सुख नहीं है ।

तीन पुरुषार्थों की अपेक्षा मोक्ष पुरुषार्थ की उत्तमता

जइ जिय उत्तमु होइ णवि एयहँ सयलहँ सोइ ।
तो किं तिण्णि वि परिहरवि जिण वच्चहिँ पर-लोइ ॥5॥

अन्वयार्थ : [जीव यदि एतेभ्यः सकलेभ्यः] हे जीव, यदि इन सबों में [सः उत्तमः एव नैव] वह (मोक्ष) ही उत्तम नहीं [भवति ततः] होता तो [जिनाः त्रीण्यपि] श्रीजिनवरदेव धर्म, अर्थ, काम इन तीनों को [परिहृत्य परलोके] छोड़कर मोक्ष में [किं व्रजंति] क्यों जाते ?

मोक्ष तीन-लोक में उत्कृष्ट

अणु जइ जगहँ वि अहिययरु गुण-गणु तासु ण होइ ।
तो तइलोउ वि किं धरइ णिय-सिर-उप्परि सोइ ॥6॥
अन्वयार्थ : [अन्यद् यदि] फिर जो [जगतः अपि अधिकतरः] सब लोक से भी बहुत ज्यादा [गुणगणः तस्य न भवति] गुणों का समूह उस (मोक्ष) में नहीं होता, [ततः त्रिलोकः अपि] तो तीनों ही लोक [निजशिरसि उपरि] अपने मस्तक के ऊपर [तमेव किं धरति] उसे (मोक्ष को) क्यों धारण करते ?

मोक्ष में अविनाशी सुख

उत्तमु सुक्खु ण देइ जइ उत्तमु मुक्खु ण होइ ।
तो किं सयलु वि कालु जिय सिद्ध वि सेवहिँ सोइ ॥8॥
अन्वयार्थ : [यदि उत्तमं सुखं] जो उत्तम अविनाशी सुख को [न ददाति] नहीं देवे, तो [मोक्षः उत्तमः न भवति] मोक्ष उत्तम भी नहीं होता [ततः जीव] तो हे जीव ! [सिद्धा अपि सकलमपि कालं] सिद्धपरमेष्ठी भी अखण्ड रूप से सदा-काल [तमेव किं सेवंते] उसी (मोक्ष) को क्यों सेवन करते ?

सभी ज्ञानियों का ध्येय मोक्ष

हरिहरब्रह्माणोऽपि जिनवरा अपि मुनिवरवृन्दान्यपि भव्याः ।
परमनिरञ्जने मनः धृत्वा मोक्षं एव ध्यायन्ति सर्वे ॥8॥
अन्वयार्थ : [हरिहरब्रह्माणोऽपि] नारायण वा इन्द्र, रुद्र अन्य ज्ञानी पुरुष [जिनवरा अपि] श्रीतीर्थंकर परमदेव [मुनिवरवृंदान्यपि भव्याः] मुनीश्वरों के समूह तथा भव्य जीव [परमनिरंजने] परम निरंजन में [मनः धृत्वा] मन रखकर [सर्वे मोक्षं एव ध्यायंति] सब ही मोक्ष को ही ध्यावते हैं ।

मोक्ष के चिंतवन की प्रेरणा

तिहुयणि जीवहँ जत्थि णवि सोक्खहँ कारणु कोइ ।
मुक्सु मुएविणु एक्कु पर तेणवि चिंतहि सोइ ॥9॥
अन्वयार्थ : [त्रिभुवने जीवानां] तीन लोक में जीवों को [मोक्षं मुक्त्वा] मोक्ष के छोड़कर [किमपि सुखस्य कारणं] कुछ भी सुख का कारण [नैव अस्ति] नहीं है, [तेन परं एकं] इसलिए नियम से एक (मोक्ष) का ही [तम् एव विचिंतय] तू चिंतवन कर ।

मोक्ष - परमात्म-प्राप्ति

जीवहँ सो पर मोक्खु मुणि जो परमप्पय-लाहु ।
कम्म-कलंक-विमुक्काहँ णाणिय बोल्लहिँ साहू ॥10॥
अन्वयार्थ : [कर्मकलंकविमुक्तानां जीवानां] कर्मरूपी कलंक से रहित जीवों को [यः परमात्मलाभः] जो परमात्म की प्राप्ति है [तं परं मोक्षं मन्यस्व] उसी को नियम से तू मोक्ष जान, ऐसा [ज्ञानिनः साधवः ब्रुवंति] ज्ञानवान् मुनिराज कहते हैं ।

मोक्षफल - शास्वत सुख

दंसणु णाणु अणंत-सुहु समउ ण तुट्टइ जासु ।
सो पर सासउ मोक्ख-फलु बिज्जउ अत्थि ण तासु ॥11॥
अन्वयार्थ : [यस्य] जिस (मोक्ष-पर्याय के धारक शुद्धात्मा) के [दर्शनं ज्ञानंअनंतसुखं] केवलदर्शन, केवलज्ञान, और अनंतसुख [समयं न त्रुटयति] एक समयमात्र भी नाश नहीं होता, [तस्य तत् परं] उस (शुद्धात्मा) के वही निश्चय से [शाश्वतं फलं] हमेशा रहनेवाला (मोक्ष का) फल [अस्ति द्वितीयं न] है, इसके सिवाय दूसरा मोक्ष-फल नहीं है ।

मोक्ष-मार्ग - निश्चय रत्नत्रय

जीवहँ मोक्खहँ हेउ वरु दंसणु णाणु चरित्तु ।

ते पुणु तिण्णि वि अप्पु मुणि णिच्छएँ एहउ वुत्तु ॥12॥

अन्वयार्थ : [जीवानां मोक्षस्य हेतुः] जीवों को मोक्ष का कारण [वरं दर्शनं ज्ञानं चारित्रम्] उत्कृष्ट दर्शन ज्ञान और चारित्र हैं [तानि पुनः त्रीण्यपि] फिर वे तीनों ही [निश्चयेन आत्मानं] निश्चय से आत्मा को ही [मन्यस्व एवं उक्तम्] माने ऐसा कहा है, ।

मोक्ष-मार्ग - रत्नत्रय परिणत आत्मा

पेच्छइ जाणइ अणुचरइ अप्पिं अप्पउ जो जि ।

दंसणु णाणु चरित्तु जिउ मोक्खहँ कारणु सो जि ॥13॥

अन्वयार्थ : [य एव आत्मना] जो अपने से [आत्मानं पश्यति] अपने को देखना, [जानाति अनुचरति] जानना, आचरण करना, [स एव दर्शनं ज्ञानं चारित्रं] वही दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणत हुआ [जीवः मोक्षस्य कारणं] जीव मोक्ष का कारण है ।

व्यवहार-रत्नत्रय की सार्थकता

जं बोल्लइ ववहारु-णउ दंसणु णाणु चरित्तु ।

तं परियाणहि जीव तुहुँ जेँ परु होहि पवित्तु ॥14॥

अन्वयार्थ : [जीव व्यवहारनयः यत्] हे जीव, व्यवहारनय जो [दर्शनं ज्ञानं चारित्रम्] दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों को [ब्रूते तत्] कहता है, उस (व्यवहार रत्नत्रय) को [त्वं परिजानीहि येन] तू जान, जिससे कि [परः पवित्रः भवसि] उत्कृष्ट अर्थात् पवित्र होवे ।

व्यवहार-सम्यक्त्व

दव्वइँ जाणइ जहठियइँ तह जगि मण्णइ जो जि ।

अप्पहँ केरउ भावडउ अविचलु दंसणु सो जि ॥15॥

अन्वयार्थ : [य एव द्रव्याणि] जो द्रव्यों को [यथास्थितानि जानाति] जैसा उनका स्वरूप है, वैसा जानें, [तथा जगति मन्यते] और उसी तरह इस जगत में निर्दोष श्रद्धान करे, [स एव आत्मनः संबंधी] वही आत्मा का [अविचलः भावः] निश्चल भाव, [स एव दर्शनं] वही सम्यक्दर्शन है ।

छह-द्रव्य

दव्वइँ जाणहि ताइँ छह तिहुयणु भरियउ जेहिँ ।

आइ-विणास-विवज्जियहिँ णाणिहि पभणियएहिँ ॥16॥

अन्वयार्थ : [तानि षड्द्रव्याणि] उन छहों द्रव्यों को [जानीहि यैः] जान, जिन द्रव्यों से [त्रिभुवनं भृतं] यह तीन-लोक भर रहा है, वे (छह-द्रव्य) [ज्ञानिभिः] ज्ञानियों ने [आदिविनाशविवर्जितैः प्रभणितैः] आदि-अंत से रहित द्रव्यार्थिकनय से कहे हैं ।

द्रव्यों के नाम

जीउ सचेयणु दव्वु मुणि पंच अचेयण अण्ण ।

पोग्गलु धम्माहम्मु णहु कालेँ सहिया भिण्ण ॥17॥

अन्वयार्थ : [जीवः सचेतनं द्रव्यं मन्यस्व] जीव को चेतन-द्रव्य जान, [अन्यानि पुद्गलः धर्माधर्मौ] और बाकी पुद्गल धर्म, अधर्म, [नभः कालेन सहिता] आकाश और काल सहित जो [पंच अचेतनानि] पाँच हैं, वे अचेतन हैं और [अन्यानि भिन्नानि] जीव से भिन्न हैं, तथा ये सब अपने-अपने लक्षणों से आपस में भिन्न हैं ।

जीव का लक्षण

मुत्ति-विहूणउ णाणमउ परमाणंद-सहाउ ।
णियमिं जोइय अप्पु मुणि णिच्चु णिरंजणु भाउ ॥18॥
अन्वयार्थ : [योगिन्] हे योगी, [नियमेन आत्मानं मन्यस्व] निश्चय करके आत्मा को ऐसा जान; [मूर्तिविहीनः] अमूर्तिक (मूर्ति से रहित), [ज्ञानमयः] ज्ञानमयी, [परमानंदस्वभावः] परमानंद स्वभाववाला, [नित्यं] नित्य, [निरंजनं] निरंजन, [भावम्] ऐसा जीव पदार्थ है ।

पुद्गल, धर्म, अधर्म का लक्षण

पुग्गलु छव्वहु मुत्तु वढ इयर अमुत्तु वियाणि ।
धम्माधम्मु वि गयठियहँ कारणु पभणहिँ णाणि ॥19॥
अन्वयार्थ : [वत्स] हे वत्स, तू [पुद्गलः] पुद्गल-द्रव्य [षड्विधः मूर्तः] छह प्रकार तथा मूर्तीक है, [इतराणि अमूर्तानि] अन्य सब द्रव्य अमूर्त हैं, ऐसा [विजानीहि] जान, [धर्माधर्ममपि] धर्म और अधर्म इन दोनों द्रव्यों को [गतिस्थित्योः कारणं] गति-स्थिति का सहायक-कारण [ज्ञानिनः प्रभणंति] केवली श्रुतकेवली कहते हैं ।

आकाश द्रव्य

दव्वुइँ सयलइँ उवरि ठियइँ णियमेँ जासु वसंति ।
तं णहु दव्वु वियाणि तुहुं जिणवर एउ भणंति ॥20॥
अन्वयार्थ : [यस्य उदरे] जिसके अंदर [सकलानि द्रव्याणि] सब द्रव्य [स्थितानि नियमेन वसंति] स्थित हुई निश्चयसे (आधार-आधेयरूप होकर) रहती हैं, [तत् त्वं] उसको तू [नभः द्रव्यं विजानीहि] आकाश द्रव्य जान, [एतत् जिनवराः भणंति] ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं ।

काल द्रव्य

कालु मुणिज्जहि दव्वु तुहुँ वट्टण-लक्खणु एउ ।
रयणहँ रासि विभिण्ण जिम तसु अणुयहँ तह भेउ ॥21॥
अन्वयार्थ : [त्वं एतत्] तू इस प्रत्यक्षरूप [वर्तनालक्षणं] वर्तनालक्षणवाले [कालं मन्यस्व] कालद्रव्य जान [यथा रत्नानां राशिः] जैसे रत्नों की राशि [विभिन्नः] जुदा जुदा रहती है (मिलते नहीं) [यथा तस्य] उसी तरह उस (काल) के [अणूनां भेदः] काल की अणुओं का भेद है ।

अखंड-प्रदेशी द्रव्य

जीउ वि पुग्गलु कालु जिय ए मेल्लेविणु दव्व ।
इयर अखंड वियाणि तुहुँ अप्प-पएसहिँ सव्व ॥22॥
अन्वयार्थ : [जीव त्वं] हे जीव, तू [जीवः अपि पुद्गलः कालः] जीव और पुद्गल, काल [एतानि द्रव्याणि] इन (तीन) द्रव्यों को [मुक्त्वा इतराणि] छोड़कर दूसरे (धर्म, अधर्म, आकाश) [सर्वाणि] ये सब (तीन द्रव्य) [आत्मप्रदेशैः अखंडानि] अपने प्रदेशों से अखंडित हैं ।

क्रिया-रहित द्रव्य

दव्व चयारि वि इयर जिय गमणागमण-विहीण ।
जीउ वि पुग्गलु परिहरिवि पभणहिँ णाण-पवीण ॥23॥
अन्वयार्थ : [जीव जीवं अपि पुद्गलं] हे हंस, जीव और पुद्गल इन दोनों को [परिहृत्य इतराणि] छोड़कर दूसरे [चत्वारि एव द्रव्याणि] (धर्मादि) चारों ही द्रव्य [गमनागमनविहीनानि] हलन चलनादि क्रिया रहित हैं, ऐसा [ज्ञानप्रवीणाः प्रणभंति] ज्ञानियों में चतुर (श्रुतकेवली / केवली) कहते हैं ।

द्रव्यों के प्रदेश

धम्माधम्मु वि एक्कु जिऊ ए जि असंख्य-पदेस ।

गयणु अणंत-पएसु मुणि बहु-विह पुग्गल-देस ॥24॥
अन्वयार्थ : [धर्माधर्मौ अपि एकः जीवः] धर्मद्रव्य-अधर्म द्रव्य और एक जीव [एतानि एव] इन तीनों ही को [असंख्यप्रदेशानि मन्यस्व] असंख्यात प्रदेशी जानो, [गगनं अनंतप्रदेशं] आकाश अनंतप्रदेशी है, [पुद्गलप्रदेशाः बहुविधाः] और पुद्गल के प्रदेश बहुत प्रकार के हैं ।

एक जगह रहते हुए भी मिलते नहीं

लोयागासु धरेवि जिय कहियइँ दव्वइँ जाइँ ।
एक्कहिँ मिलियइँ इत्थु जगि सगुणहिँ णिवसहिँ ताइँ ॥25॥
अन्वयार्थ : [जीव अत्र जगति] हे जीव, इस संसार में [यानि द्रव्याणिकथितानि] जो द्रव्य कहे गये हैं, [तानि लोकाकाशं धृत्वा] वे सब लोकाकाश में स्थित हैं, [एकत्वे मिलितानि] ये द्रव्य एक क्षेत्र में मिले हुए रहते हैं, तो भी [स्वगुणेषु निवसंति] अपने-अपने गुणों में ही निवास करते हैं ।

द्रव्यों का जीव पर उपकार

एयइँ दव्वइँ देहियहँ णिय-णिय-कज्जु जणंति ।
चउ-गइ-दुक्ख सहंत जिय तेँ संसारु भमंति ॥26॥
अन्वयार्थ : [एतानि द्रव्याणि] ये द्रव्य [देहिनां] जीवों के [निजनिजकार्यं] अपने-अपने कार्य को [जनयंति] उपजाते हैं, [तेन] इस कारण [चतुर्गतिदुःखं सहमानाः जीवाः] चारों गतियों के दुःखों को सहते हुए जीव [संसारं भ्रमंति] संसार में भटकते हैं ।

पर-द्रव्य दुःख का कारण

दुक्खहँ कारणु मुणिवि जिय दव्वहँ एहु सहाउ ।
होयवि मोक्खहँ मग्गि लहु गम्मिज्जइ पर-लोउ ॥27॥
अन्वयार्थ : [जीव] हे जीव, [द्रव्याणां इमं स्वभावम्] परद्रव्यों के ये स्वभाव [दुःखस्य कारणं मत्वा] दुःख के कारण जानकर [मोक्षस्य मार्गे] मोक्ष के मार्ग में [भूत्वा] लगकर [लघु परलोकः गम्यते] शीघ्र ही उत्कृष्ट लोकरूप मोक्ष में जाना चाहिये ।

क्रम-प्राप्त ज्ञान और चारित्र का वर्णन

णियमेँ कहियउ एहु मइँ ववहारेण वि दिट्ठि ।
एवहिँ णाणु चरित्तु सुणि जेँ पावहि परमेट्ठि ॥28॥
अन्वयार्थ : [मया व्यवहारेणैव] मैंने व्यवहारनय से [एषादृष्टिः] ये सम्यग्दर्शन का स्वरूप [नियमेन कथिता] अच्छी तरह कहा, [इदानीं] अब [ज्ञानं चारित्रं शृणु] ज्ञान और चारित्र को सुन, [येन परमेष्ठिनम् प्राप्नोषि] जिससे सिद्धपद को पावेगा ।

सम्यग्ज्ञान

जं जह थक्कउ दव्वु जिय तं तह जाणइ जो जि ।
अप्पहं केरउ भावडउ णाणु मुणिज्जहि सो जि ॥29॥
अन्वयार्थ : [जीव] हे जीव ! [यत् यथा स्थितं] ये (सब द्रव्य) जिस तरह (अनादिकाल के) तिष्ठे हुए हैं, [तत् तथा] उनको वैसा ही (संशयादि रहित) [य एव जानाति] जो जानता है, [स एव] वही [आत्मनः संबंधी भावः] आत्मा का निज-स्वरूप [ज्ञानं मन्यस्व] सम्यग्ज्ञान है, ऐसा मान ।

सम्यक-चारित्र

जाणवि मण्णवि अप्पु परु जो पर-भाउ चएइ ।
सो णिउ सुद्धउ भावडउ णाणिहिं चरणु हवेइ ॥30॥

अन्वयार्थ : [आत्मानं च परं] आत्मा को और पर को [ज्ञात्वा मत्वा] जानकर और प्रतीति करके [यः परभावं] जो परभाव को [त्यजति] छोड़ता है [सः निजः शुद्धः भावः] वह आत्मा का निज शुद्ध भाव उन [ज्ञानिनां] ज्ञानीयों का [चरणं भवति] चारित्र होता है ।

अभेद रत्नत्रय

जो भत्तउ रयणत्तयहँ तसु मुणि लक्खणु एउ ।
अप्पा मिल्लिवि गुण-णिलउ तासु वि अण्णु ण झेउ ॥31॥

अन्वयार्थ : [यः रत्नत्रयस्य भक्तः] जो रत्नत्रय का भक्त है [तस्य इदं लक्षणं मन्यस्व] उसका यह लक्षण जानना, [गुणनिलयं] गुणों के समूह [आत्मानं मुक्त्वा] आत्मा को छोड़कर [तस्यापि अन्यत्] आत्मा से अन्य बाह्य द्रव्य को [न ध्येयम्] न ध्यावे ।

रत्नत्रय ही आत्मा

जे रयणत्तउ णिम्मलउ णाणिय अप्पु भणंति ।
ते आराहय सिव-पयहँ णिय-अप्पा झायंति ॥32॥

अन्वयार्थ : [ये ज्ञानिनः] जो ज्ञानी [निर्मलं रत्नत्रयं] निर्मल (रागादि दोष रहित) रत्नत्रय को [आत्मानं भणंति] आत्मा कहते हैं [ते शिवपदस्य आराधकाः] वे शिवपद के आराधक हैं, [निजात्मानं ध्यायंति] अपने आत्मा को ध्यावते हैं ।

निर्मल आत्म-ध्यान से मुक्ति

अप्पा गुणमउ णिम्मलउ अणुदिणु जे झायंति ।
ते पर णियमेँ परम-मुणि लहु णिव्वाणु लहंति ॥33॥

अन्वयार्थ : [ये गुणमय] जो (केवलज्ञानादि अनंत) गुणरूप [निर्मले] (भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म) मल रहित [आत्मानं अनुदिनं] आत्मा को निरंतर [ध्यायंति] ध्यावते हैं, [ते परं] वे ही [परममुनयः] परममुनि [नियमेन] निश्चय से [निर्वाण] निर्वाण को [लघु लभंते] शीघ्र पाते हैं ।

सामान्य अवलोकन - दर्शन

सयल-पयत्थहँ जं गहणु जीवहँ अग्गिमु होइ ।
वत्थु-विसेस-विवज्जयउ तं णिय-दंसणु जोइ ॥34॥

अन्वयार्थ : [सकलपदार्थानां] समस्त पदार्थ (सामान्य) का [यत्] जिससे [वस्तुविशेषविवर्जितं] वस्तु का विशेष रहित [ग्रहणं] ग्रहण होता है [जीवानां] जीवों के [अग्रिमं] (ज्ञान से) पहले [भवति] होता है [तत्] उसको [निजदर्शनं] निज-दर्शन [पश्य] देखो ।

दर्शन पूर्वक ज्ञान

दंसणपुव्वु हवेइ फु डु जं जीवहँ विण्णाणु ।
वत्थु-विसेसु मुणंतु जिय तं मुणि अविचलु णाणु ॥35॥

अन्वयार्थ : [यत्] जो [जीवानां] जीवों के [विज्ञानम्] ज्ञान है, वह [स्फुटं] स्पष्ट ही [दर्शनपूर्वं] दर्शन के बाद में [भवति] होता है, [वस्तुविशेषं जानन्] वस्तु को विशेष-रूप जाननेवाला है, [जीव] हे जीव [अविचलं] संशय विमोह विभ्रम से रहित [तत् ज्ञानम्] उस ज्ञान को [मन्यस्व] तू जान ।

तप द्वारा निर्जरा

दुक्खु वि सुक्खु सहंतु जिय णाणिउ झाण-णिलीणु ।
कम्महँ णिज्जर-हेउ तउ वुच्चइ संग-विहीणु ॥36॥

अन्वयार्थ : [जीव] हे जीव, [ज्ञानी] ज्ञानी [ध्याननिलीनः] आत्म-ध्यान में लीन [दुःखम् अपि सुखं] दुःख और सुख को [सहमानः] समभावों से सहते हुए को [कर्मणः निर्जराहेतुः] कर्मों की निर्जरा का कारण [तप:] तप [संगविहीनः उच्यते] परिग्रह रहित तपस्वियों ने

कहा है ।

समभाव द्वारा संवर

बिण्णि वि जेण सहंतु मुणि मणि सम-भाउ करेइ ।
पुण्णहँ पावहँ तेण जिय संवर-हेउ हवेइ ॥37॥

अन्वयार्थ : [येन] जिस कारण [द्वे अपि सहमानः] (सुख दुःख) दोनों को ही सहता हुआ [मुनिः] मुनि [मनसि] मन में [समभावं] समभाव को [करोति] धारण करता है, [तेन] इसी कारण [जीव] हे जीव, (वह मुनि) [पुण्यस्य पापस्य संवरहेतुः] पुण्य और पाप के संवर का कारण [भवति] होता है ।

आत्मलीन ही संवर और निर्जरा

अच्छइ जित्तिउ कालु मुणि अप्प-सरूवि णिलीणु ।
संवर-णिज्जर जाणि तुहुं सयल-वियप्प-विहीणु ॥38॥

अन्वयार्थ : [मुनिः] मुनि [यावंतं कालं] जब तक [आत्मस्वरूपे निलीनः] आत्म-स्वरूप में लीन [तिष्ठति] रहता है उसे, [त्वं] तू [सकलविकल्पविहीनम्] समस्त विकल्प समूहों से रहित [संवरनिर्जरा] संवर निर्जरा [जानीहि] जान ।

परिग्रह-रहित को संवर-निर्जरा

कम्मु पुरक्किउ सो खवइ अहिणव पेसु ण देइ ।
संगु मुएविणु जो सयलु उवसम-भाउ करेइ ॥39॥

अन्वयार्थ : [सः] वही [पुराकृतं कर्म] पूर्व उपार्जित कर्मों को [क्षपयति] क्षय करता है, और [अभिनवं] नये कर्मों को [प्रवेशं] प्रवेश [न ददाति] नहीं होने देता, [यः] जो कि [सकलं] सब [संगं] बाह्य अभ्यंतर परिग्रह को [मुक्त्वा] छोड़कर [उपशमभावं] परम शांतभाव को [करोति] करता है ।

समभाव बिना रत्नत्रय नहीं

दंसणु णाणु चरित्तु तसु जो सम-भाउ करेइ ।
इयरहँ एक्कु वि अत्थि णवि जिणवरु एउ भणेइ ॥40॥

अन्वयार्थ : [दर्शनं ज्ञानं चारित्रं] सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र [तस्य] उसी के होते हैं, [यः] जो [समभावं] समभाव [करोति] करता है, [इतरस्य] दूसरे समभाव रहित जीव के [एकं अपि] तीन रत्नोंमें से एक भी [नैव अस्ति] नहीं है, [एवं] इस-प्रकार [जिनवरः] जिनेन्द्रदेव [भणति] कहते हैं ।

कषायों द्वारा असंयम

जाँवइ णाणिउ उवसमइ तामइ संजदु होइ ।
होइ कसायहँ वसि गयउ जीउ असंजदु सो ॥41॥

अन्वयार्थ : [यदा ज्ञानी जीवः] जिस समय ज्ञानी जीव [उपशाम्यति] शांतभाव को प्राप्त होता है, [तदा संयतः भवति] उस समय संयमी होता है, और [कषायाणां] क्रोधादि कषायों के [वशे गतः] आधीन हुआ [स एव] वही जीव [असंयतः भवति] असंयमी होता है ।

मोह-राग-द्वेष रहित को मुक्ति

जेण कसाय हवंति मणि सो जिय मिल्लहि मोहु ।
मोह-कसाय-विवज्जयउ पर पावहि सम-बोहु ॥42॥

अन्वयार्थ : [जीव येन] हे जीव; जिससे [मनसि कषायाः भवंति] मन में कषाय होवें, [तं मोहम्] उस मोह को [मुंच मोहकषायविवर्जितः]

छोड़कर, मोह कषाय रहित हुआ तू [परं समबोधम्] नियम से राग-द्वेष रहित ज्ञान को [प्राप्नोषि] पावेगा ।

परमार्थ के ज्ञाता सुखी

तत्तातत्तु मुणेवि मणि जे थक्का सम-भावि ।
ते पर सुहिया इत्थु जगि जहँ रइ अप्प-सहावि ॥43॥

अन्वयार्थ : [ये] जो [तत्त्वातत्त्वं] तत्त्व और अतत्त्व को [मनसि] मन में [मत्वा] जानकर [समभावे स्थिताः] शांतभाव में तिष्ठते हैं, और [येषां रतिः] जिनकी लगन [आत्मस्वभावे] निज शुद्धात्म स्वभाव में हुई है, [ते परं] वे ही जीव [अत्र जगति] इस संसार में [सुखिनः] सुखी हैं ।

समभावधारी की निंदा द्वारा स्तुति

बिण्णि वि दोस हवंति तसु जो सम-भाउ करेइ ।
बंधु जि णिहणइ अप्पणउ अणु जगु गहिलु करेइ ॥44॥

अन्वयार्थ : [यः] जो (साधु) [समभावं] राग-द्वेष के त्यागरूप समभाव को [करोति] करता है, [तस्य] उस (तपोधन) के [द्वौ अपि दोषौ] दो ही दोष [भवतः] होते हैं; [आत्मीयं बंधं एव निहंति] एक तो अपने बंध को नष्ट करता है, [पुनः] दूसरे [जगद् ग्रहिलं करोति] जगत् के प्राणियों को बावला (पागल) बना देता है ।

और भी निन्दा द्वारा स्तुति

अण्णु वि दोसु हवेइ तसु जो सम-भाउ करेइ ।
सत्तु वि मिल्लिवि अप्पणउ परहँ णिलीणु हवेइ ॥45॥

अन्वयार्थ : [यः समभावं] जो समभाव को [करोति] करता है, [तस्य] उस (तपोधन) के [अन्यः अपि दोषः] दूसरा भी दोष [भवति] है । क्योंकि [परस्य निलीनः] पर के आधीन [भवति] होता है, और [आत्मीयं अपि] अपने आधीन भी [शत्रुम् मुंचति] शत्रु को छोड़ देता है ।

योगी और भोगी में भेद

जा णिसि सयलहँ देहियहँ जोग्गिउ तहिँ जग्गेइ ।
जहिँ पुणु जग्गइ सयलु जगु सा णिसि मणिवि सुवेइ ॥46-अ॥

अन्वयार्थ : [या सकलानां देहिनां] जो सब संसारी जीवों की [निशा] रात है, [तस्यां योगी जागर्ति] वहां परम तपस्वी जागता है, [पुनः यत्र] और जिसमें [सकलं जगत्] सब संसारी जीव [जागर्ति] जाग रहे हैं, [तां] उस दशा को [निशां मत्वा स्वपिति] योगी रात मानकर योग निद्रा में सोता है ।

और भी निन्दा द्वारा स्तुति

अण्णु वि दोसु हवेइ तसु जो समभाउ करेइ ।
वियलु हवेविणु इक्कलउ उप्परि जगहँ चडेइ ॥46॥

अन्वयार्थ : [यः] जो तपस्वी महामुनि [समभावं] समभाव को [करोति] करता है, [तस्य] उसके [अन्यः अपि] दूसरा भी [दोषः भवति] दोष होता है, जो कि [विकलः भूत्वा] शरीर रहित होकर (बुद्धि धन वगैरः से भ्रष्ट होकर) [एकाकी] अकेला [जगतः उपरि] लोक के शिखर पर (सबके ऊपर) [आरोहति] चढ़ता है ।

ज्ञानी के किसी से राग द्वेष नहीं

णाणि मुएप्पिणु भाउ समु कित्थु वि जाइ ण राउ ।
जेण लहेसइ णाणमउ तेण जि अप्प-सहाउ ॥47॥

अन्वयार्थ : [ज्ञानी शमं भावं मुक्त्वा] ज्ञानी (मुनि) समभाव को छोड़कर [क्वापि रागम् न याति] किसी पदार्थ में राग नहीं करता [येन ज्ञानमयं] इसी कारण ज्ञानमयी निर्वाणपद [प्राप्स्यति] पावेगा, [तेनैव] और उसी (समभाव) से [आत्मस्वभावम्] आत्म-स्वभाव (सिद्ध-पद) को पावेगा ।

ज्ञानी समभाव को छोड़कर कुछ नहीं करता

भणइ भणावह णवि थुणइ णिदह णाणि ण कोइ ।
सिद्धिहिँ कारणु भाउ समु जाणंतउ पर सोइ ॥48॥

अन्वयार्थ : [ज्ञानी कमपि न] ज्ञानी न किसी से [भणति] पढ़ता [भाणयति] पढ़ाता [नैव स्तौति निंदति] न किसी की स्तुति करता, न किसी की निंदा करता, [सिद्धेः कारणं] मोक्ष का कारण [समं भावं] एक समभाव को [परं जानन्] निश्चय से जानो [तमेव] तुम भी ।

ज्ञानी के परिग्रह में राग-द्वेष नहीं

गंथहँ उप्परि परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ ।
गंथहँ जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ॥49॥

अन्वयार्थ : [ग्रंथस्य उपरि] (अंतरङ्ग बाह्य / शास्त्र) परिग्रह के ऊपर जो [परममुनिः] परम तपस्वी [रागम् द्वेषमपि न करोति] राग और द्वेष नहीं करता है [येन] जिस मुनि ने [आत्मस्वभावः] आत्मा का स्वभाव [ग्रंथात्] ग्रंथ से [भिन्नः विज्ञातः] जुदा जान लिया है ।

ज्ञानी के विषयों में राग-द्वेष नहीं

विसयहँ उप्परि परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ ।
विसयहँ जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ॥50॥

अन्वयार्थ : [परममुनिः विषयाणां उपरि] महामुनि (पाँच इन्द्रियों के स्पर्शादि) विषयों पर [रागमपि द्वेषं] राग और द्वेष [न करोति] नहीं करता; [येन आत्मस्वभावः] जिसने अपना स्वभाव [विषयेभ्यः भिन्नः विज्ञातः] विषयों से जुदा समझ लिया है ।

ज्ञानी के देह में राग-द्वेष नहीं

देहहँ उप्परि परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ ।
देहहँ जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ॥51॥

अन्वयार्थ : [परममुनिः देहस्य उपरि] महामुनि शरीर के ऊपर भी [रागमपि द्वेषम्] राग और द्वेष को [न करोति] नहीं करता [येन आत्मस्वभावः] जिसने निज-स्वभाव [देहात्] देह से [भिन्नः विज्ञातः] भिन्न जान लिया है ।

ज्ञानी के ग्रहण-त्याग में राग-द्वेष नहीं

वित्ति-णिवित्तिहिँ परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ ।
बंधहँ हेउ वियाणियउ एयहँ जेण सहाउ ॥52॥

अन्वयार्थ : [परममुनि वृत्तिनिवृत्त्योः] महामुनि प्रवृत्ति और निवृत्ति में [रागम्अपि द्वेषम्] राग और द्वेष को [न करोति] नहीं करता, [येन एतयोः] जिसने इन दोनों का [स्वभावः बंधस्य हेतुः] स्वभाव कर्म-बंध का कारण [विज्ञातः] जान लिया है ।

बंध-मोक्ष का कारण स्वयं -- ज्ञानी

बंधहँ मोक्खहँ हेउ णिउ जो णवि जाणइ कोइ ।
सो पर मोहिं करइ जिय पुण्णु वि पाउ वि दोइ ॥53॥

अन्वयार्थ : [यः कश्चित्] जो कोई (जीव) [बंधस्य मोक्षस्य हेतुः] बंध और मोक्ष का कारण [निजः नैव जानाति] स्वयं को नहीं जानता है, [स एव पुण्यमपि पापमपि] वही पुण्य और पाप [द्वे अपि] दोनों को ही [मोहेन करोति] मोह से करता है ।

पुण्य-पाप मोक्ष के कारण -- अज्ञानी

दंसण-णाण-चरित्तमउ जो णवि अप्पु मुणेइ ।

मोक्खहँ कारणु भणिवि जिय सो पर ताइँ करेइ ॥54॥

अन्वयार्थ : [यः दर्शनज्ञानचारित्रमयं] जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमयी [आत्मानं नैव मनुते] आत्मा को नहीं जानता, [स एव जीव] वही हे जीव; [ते मोक्षस्य कारणं] उन (पुण्य-पाप) को मोक्ष के कारण [भणित्वा करोति] जानकर करता है ।

अज्ञानी पुण्य-पाप को समान नहीं मानता

जो णवि मण्णइ जीउ समु पुण्णु वि पाउ वि दोइ ।

सो चिरु दुक्खु सहंतु जिय मोहिं हिंडइ लोइ ॥55॥

अन्वयार्थ : [यः जीवः] जो जीव [पुण्यमपि पापमपि द्वे] पुण्य और पाप दोनों को [समाने नैव मन्यते] समान नहीं मानता, [सः मोहेन] वह जीव मोह से मोहित हुआ [चिरं दुःखं सहमानः] बहुत काल तक दुःख सहता हुआ [लोके हिंडते] संसार में भटकता है ।

पाप का उदय भी भला

वर जिय पावइँ सुंदरइँ णाणिय ताइँ भणंति ।

जीवहँ दुक्खइँ जणिवि लहु सिवमइँ जाइँ कुणंति ॥56॥

अन्वयार्थ : [जीव यानि] हे जीव, जो पाप के उदय [जीवानां दुःखानि जनित्वा] जीवों को दुःख देकर [लघु शिवमतिं] शीघ्र ही मोक्ष के जाने योग्य उपायों में बुद्धि [कुर्वन्ति तानि पापानि] कर देवे, तो वे पाप भी [वरं सुंदराणि] बहुत अच्छे हैं, ऐसा [ज्ञानिनः भणंति] ज्ञानी कहते हैं ।

पुण्य का उदय भी बुरा

मं पुणु पुण्णइं भल्लाइँ णाणिय ताइँ भणंति ।

जीवहँ रज्जइँ देवि लहु दुक्खहँ जाइँ जणंति ॥57॥

अन्वयार्थ : [पुनः तानि पुण्यानि] फिर वे पुण्य भी [मा भद्राणि] अच्छे नहीं हैं, [यानि जीवस्य] जो जीव को [राज्यानि दत्त्वा] राज देकर [लघु दुःखानि] शीघ्र ही नरकादि दुःखों को [जनयंति] उपजाते हैं, [ज्ञानिनः] ऐसा ज्ञानी पुरुष [भणंति] कहते हैं ।

आत्मदर्शी का मरण भी शुभ और अज्ञानी का पुण्य करना भी अशुभ

वर णिय-दंसण-अहिमुहउ मरणु वि जीव लहेसि ।

मा णिय-दंसण-विम्मुहउ पुण्णु वि जीव करेसि ॥58॥

अन्वयार्थ : [जीव] हे जीव, [निजदर्शनाभिमुखः] जो अपने सम्यग्दर्शन के सन्मुख होकर [मरणमपि] मरण को भी [लभस्व वरं] पावे, तो अच्छा है, परन्तु [जीव] हे जीव, [निजदर्शनविमुखः] अपने सम्यग्दर्शन से विमुख हुआ [पुण्यमपि] पुण्य भी [करिष्यसि] करे [मा वरं] तो अच्छा नहीं ।

आत्मदर्शी सुखी, अज्ञानी दुखी

जे णिय - दंसण - अहिमुहा सोक्खु अणंतु लहंति ।

तिं विणु पुण्णु करंता वि दुक्खु अणंतु सहंति ॥59॥

अन्वयार्थ : [ये निजदर्शनाभिमुखाः] जो निज-दर्शन के सम्मुख हैं, [अनन्तंसुखं] अनन्त सुख को [लभन्ते] पाते हैं, [तेन विना] और उस (सम्यक्त्व) के बिना [पुण्यं कुर्वाणा अपि] पुण्य भी करते हैं, [अनंतं दुःखम् सहंते] अनन्त दुःख भोगते हैं ।

मोह उत्पन्न करे ऐसा पुण्य का उदय बुरा

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइ-मोहो ।
मइ-मोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होउ ॥60॥
अन्वयार्थ : [पुण्येन विभवः] पुण्य से (घर में) धन [भवति] होता है, और [विभवेन] धन से [मदः] अभिमान, [मदेन] मान से [मतिमोहः] बुद्धि-भ्रम होता है, [मतिमोहेन] बुद्धि के भ्रम होने से (अविवेक से) [पापं] पाप होता है, [तस्मात्] इसलिये [पुण्यं] ऐसा पुण्य [अस्माकं] हमारे [मा भवतु] न होवे ।

देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति से पुण्य, मुक्ति नहीं

देवहं सत्थहं मुणिवरहँ भत्तिए पुण्णु हवेइ ।
कम्म-क्खउ पुणु होइ णवि अज्जउ संति भणेइ ॥61॥
अन्वयार्थ : [देवानां शास्त्राणां मुनिवराणां] श्रीवीतरागदेव, द्वादशांग शास्त्र और दिगम्बर साधुओं की [भक्त्या] भक्ति करने से [पुण्यं भवति] पुण्य होता है, [पुनः] और [कर्मक्षयः] कर्मों का क्षय [नैव भवति] नहीं होता, ऐसा [आर्यः शांतिः] शांति नाम आर्य [भणति] कहते हैं ।

देव-शास्त्र-गुरु से द्वेष पापभाव

देवहं सत्थहँ मुणिवरहँ जो विद्देसु करेइ ।
णियमेँ पाउ हवेइ तसु जेँ संसारु भमेइ ॥62॥
अन्वयार्थ : [देवानां शास्त्राणां मुनिवराणां] वीतरागदेव, जिनसूत्र और निर्ग्रंथ मुनियों से [यः] जो जीव [विद्वेषं] द्वेष [करोति] करता है, [तस्य] उसके [नियमेन] निश्चय से [पापं] पाप [भवति] होता है, [येन] जिससे [संसारं] संसार में [भ्रमति] भ्रमता है ।

पाप से दुर्गति, पुण्य से सुगति, दोनों के ही नाश से मोक्ष

पावेँ णारउ तिरिउ जिउ पुएणेँ अमरु वियाणु ।
मिस्सेँ माणुस-गइ लहइ दोहि वि खइ णिव्वाणु ॥63॥
अन्वयार्थ : [जीवः पापेन] जीव पाप से [नारकः तिर्यग्] नरकगति और तिर्यंचगति और [पुण्येन] पुण्य से [अमरः] देव और, [मिश्रेण] पुण्य और पाप दोनों के मेल से [मनुष्यगतिं] मनुष्यगति को [लभते] पाता है, और [द्वयोरपि क्षये] दोनों (पुण्य-पाप) के ही नाश से [निर्वाणम्] मोक्ष को पाता है, ऐसा [विजानीहि] जानो ।

ज्ञानी के लिए वंदना, निंदा, प्रायश्चित्त हेय

वंदणु णिंदणु पडिकमणु पुण्णहँ कारणु जेण ।
करइ करावइ अणमणइ एक्कु वि णाणिण तेण ॥64॥
अन्वयार्थ : [वंदनं] (पंच परमेष्ठी की) वंदना, [निंदनं] (अपने अशुभ कर्म की) निंदा, और [प्रतिक्रमणं] (अपराधों का) प्रायश्चित्त, ये सब [येन पुण्यस्य कारणं] चूँकि पुण्य के कारण हैं, [तेन] इसीलिये [ज्ञानी] ज्ञानी जीव [एकमपि] (इन तीनों में से) एक भी [न करोति] न तो करता है, [कारयति] न कराता है, और न [अनुमन्यते] करते हुए को भला जानता है ।

ज्ञानियों को ज्ञानमय भाव नहीं छोड़ना चाहिए

वंदणु णिदणु पडिकमणु णाणिहिँ एहु ण जुत्तु ।
एक्कु जि मेल्लिवि णाणमउ सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥65॥
अन्वयार्थ : [वंदन निंदनं प्रतिक्रमणं] वंदना, निंदा, और प्रतिक्रमण [इदं] ये तीनों [ज्ञानिनां] ज्ञानियों को [युक्तम् न] ठीक नहीं हैं, [एकमेव] एक [ज्ञानमयं] ज्ञानमय [शुद्धं पवित्रम् भावं] पवित्र शुद्ध भाव को [मुक्त्वा] छोड़कर ।

शुद्ध-उपयोग बिना मुक्ति नहीं

वंदउ णिंदउ पडिकमउ भाउ असुद्धउ जासु ।
पर तसु संजमु अत्थि णवि जं मण-सुद्धि ण तासु ॥66॥

अन्वयार्थ : [वंदतु निंदतु प्रतिक्रामतु] वंदना करो, निंदा करो, प्रतिक्रमणादि करो, लेकिन [यस्य] जिसके [अशुद्धो भावः] अशुद्ध परिणाम हैं, [तस्य] उसके [परं] नियम से [संयमः] संयम [नैव अस्ति] नहीं हो सकता, [यस्मात्] क्योंकि [तस्य] उसके [मनःशुद्धिः न] मन की शुद्धता नहीं है ।

शुद्धोपयोग ही मुख्य

सुद्धहँ संजमु सीलु तउ सुद्धहँ दंसणु णाणु ।
सुद्धहँ कम्मक्खउ हवइ सुद्धउ तेण पहाणु ॥67॥

अन्वयार्थ : [शुद्धानां] शुद्धोपयोगियों के ही [संयमः शील तपः] (पाँच इन्द्री और मन को रोकनेरूप) संयम, शील और तप [भवति] होते हैं, [शुद्धानां] शुद्धों के ही [दर्शनं ज्ञानम्] सम्यग्दर्शन और वीतराग स्व-संवेदनज्ञान और [शुद्धानां] शुद्धोपयोगियों के ही [कर्मक्षयः] कर्मों का नाश होता है, [तेन] इसलिये [शुद्धः] शुद्धोपयोग ही [प्रधानः] मुख्य है ।

शुद्ध-उपयोग ही धर्म

भाउ विसुद्धउ अप्पणउ धम्मु भणेविणु लेहु ।
चउ-गइ-दुक्खहँ जा धरइ जीउ पडंतउ एहु ॥68॥

अन्वयार्थ : [विशुद्धः भावः] (मिथ्यात्व रागादिसे रहित) शुद्ध परिणाम है, वही [आत्मीयः] अपना होने से [धर्मं भणित्वा] धर्म समझकर [गृह्णीथाः] अंगीकार करो; [यः] जो (आत्मधर्म) [चतुर्गतिदुःखेभ्यः] चारों गतियों के दुःखों से [पतंतम्] संसार में पड़े हुए [इमम् जीवं] इस जीव को निकालकर [धरति] (आनंद स्थान में) रखता है ।

शुद्ध-भाव बिना मुक्ति नहीं

सिद्धिहिँ केरा पंथडा भाउ विसुद्धउ एक्कु ।
जो तसु भावहँ मुणि चलइ सो किम होइ विमुक्कु ॥69॥

अन्वयार्थ : [सिद्धेः संबंधी पंथाः] मुक्ति का मार्ग [एकः विशुद्धः भावः] एकमात्र शुद्ध भाव ही है [यः मुनिः] जो मुनि [तस्मात् भावात्] उस शुद्ध भाव से [चलति] चलायमान हो जावे, तो [सः कथं] वह कैसे [विमुक्तः भवति] मुक्त हो सकता है ?

चित्त की शुद्धि बिना सब करना व्यर्थ

जहिँ भावइ तहिँ जाहि जिय जं भावइ करि तं जि ।
केम्वइ मोक्खुण अत्थि पर चित्तहँ सुद्धि ण जं जि ॥70॥

अन्वयार्थ : [जीव यत्र भाति] हे जीव, जहाँ भाए [तत्र याहि] वहां जा, और [यत् भाति] जो भाए (अच्छा लगे) [तदेव कुरु] वैसा कर, [परं यदेव] लेकिन जब तक [चित्तस्य शुद्धिः न] मन की शुद्धि नहीं है, तब तक [कथमपि मोक्षो नास्ति] किसी तरह मोक्ष नहीं हो सकता ।

शुभ से धर्म, अशुभ पाप, शुद्ध अबन्धक

सुह-परिणामेँ धम्मु पर असुहेँ होइ अहम्मु ।
दोहिँ वि एहिँ विवज्जियउ सुद्धु ण बंधइ कम्मु ॥71॥

अन्वयार्थ : [शुभपरिणामेन] शुभ परिणामों से [धर्मः परं] मुख्यता से धर्म [भवति] होता है, [अशुभेन] (विषय कषायादि) अशुभ परिणामों से [अधर्मः] पाप होता है, [अपि] और [एताभ्यां द्वाभ्याम् विवर्जितः] इन दोनों से रहित [शुद्धः] शुद्ध के [कर्म न बध्नाति] कर्म नहीं बाँधता ।

दान से भोग, तप से इंद्रत्व, ज्ञान से मोक्ष

दाणिं लब्भइ भोउ पर इंदत्तणु वि तवेण ।
जम्मण-मरण-विवज्जियउ पउ लब्भइ णाणेण ॥72॥

अन्वयार्थ : [दानेन परं भोगः] दान से नियम से (पाँच इंद्रियों के) भोग [लभ्यते] प्राप्त होते हैं, [अपि तपसा] और तप से [इंद्रत्वम्] इंद्रत्व मिलता है, तथा [ज्ञानेन] (वीतराग स्व-संवेदन) ज्ञान से [जन्ममरणविवर्जितं] जन्म-मरण से रहित [पदं लभ्यते] मोक्ष पद मिलता है ।

निसंदेह ज्ञान से ही मोक्ष, ज्ञान-रहित को संसार-भ्रमण

देउ णिरंजणु इउँ भणइ णाणिं मुक्खु ण भंति ।
णाण-विहीणा जीवडा चिरु संसारु भमंति ॥73॥

अन्वयार्थ : [निरंजनः] मोह-राग-द्वेष रहित [देवः] सर्वज्ञ वीतरागदेव [एवं भणति] ऐसा कहते हैं, कि [ज्ञानेन मोक्षः] ज्ञान से ही मोक्ष है, [न भ्रांतिः] इसमें संदेह नहीं है और [ज्ञानविहीनाः] ज्ञान से रहित [जीवाः चिरं] जीव बहुत काल तक [संसारं भ्रमंति] संसार में भटकते हैं ।

ज्ञान-रहित के मोक्ष नहीं -- उदाहरण

णाण-विहीणहँ मोक्ख-पउ जीव म कासु वि जोइ ।
बहुएँ सलिल-विरोलियइँ करु चोप्पडउ ण होइ ॥74॥

अन्वयार्थ : [ज्ञानविहीनस्य] ज्ञान से रहित [कस्यापि] किसी के [मोक्षपदं] मोक्ष-पदवी [जीव] हे जीव, [मा द्राक्षीः] मत देख [बहुना] बहुत [सलिलविलोडितेन] पानी के मथने से भी [करः] हाथ [चिक्कणो] चीकना [न भवति] नहीं होता ।

आत्म-बोध बिना ज्ञान और तप व्यर्थ

जं णिय-बोहहँ बाहिरउ णाणु वि कज्जु ण तेण ।
दुक्खहँ कारणु जेण तउ जीवहँ होइ खणेण ॥75॥

अन्वयार्थ : [यत् निजबोधात्] जो आत्म-बोध से [बाह्यं] बाहर (रहित) [ज्ञानमपि] (शास्त्र आदि का) ज्ञान भी है, [तेन] उससे [कार्यं न] कुछ काम नहीं, [येन] क्योंकि [तपः क्षणेन] तप शीघ्र ही [जीवस्य] (बोध-रहित) जीव को [दुःखस्य कारणं] दुःख का कारण [भवति] होता है ।

आत्मज्ञानी के पर-द्रव्य में प्रीती नहीं

तं णिय-णाणु जि होइ ण वि जेण पवड्ढइ राउ ।
दिणयर-किरणहँ पुरउ जिय किं विलसइ तम-राउ ॥76॥

अन्वयार्थ : [जीव तत्] हे जीव, वह [निजज्ञानम् एव] आत्म-तत्त्व का परिज्ञान ही [नापि भवति] नहीं है [येन रागः प्रवर्धते] जिससे पर-द्रव्य में प्रीति बढ़े, [दिनकरकिरणानां पुरतः] सूर्य की किरणों के आगे [तमोरागः] अन्धकार का फैलाव [किं विलसति] कैसे शोभायमान हो सकता है ?

आत्मज्ञानी को विषय-भोग में प्रीती क्यों नहीं?

अप्पा मिल्लिवि णाणियहँ अण्णु ण सुंदरु वत्थु ।
तेण ण विसयहँ मणु रमइ जाणंतहँ परमत्थु ॥77॥

अन्वयार्थ : [आत्मानं] आत्मा को [मुक्त्वा] छोड़कर [ज्ञानिनां] ज्ञानियों को [अन्यद् वस्तु] अन्य वस्तु [सुंदरं न] अच्छी नहीं लगती, [तेन] इसलिये [परमार्थम् जानतां] परमात्म-पदार्थ को जाननेवालों का [मनः] मन [विषयाणां] विषयों में [न रमते] नहीं लगता ।

आत्मज्ञान श्रेष्ठ -- उदाहरण

अप्पा मिल्लिवि णाणमउ चित्ति ण लग्गइ अण्णु ।
मरगउ जेँ परियाणियउ तहुँ कच्चेँ कउ गण्णु ॥78॥

अन्वयार्थ : [ज्ञानमयं आत्मानं मुक्त्वा] ज्ञानमयी आत्मा को छोड़कर [अन्यत् चित्ते] दूसरी वस्तु ज्ञानियों के मन में [न लगति] नहीं रुचती; [येन मरकतः] जिसने मरकतमणि (रत्न) [परिज्ञातः] जान लिया, [तस्य काचेन] उसको काँच से [किं गणनं] क्या प्रयोजन है ?

कर्म-फल में राग-द्वेष से संसार

भुंजंतु वि णिय-कम्म-फ लु मोहइँ जो जि करेइ ।
भाउ असुंदरु सुंदरु वि सो पर कम्मु जणेइ ॥79॥

अन्वयार्थ : [य एव] जो जीव [निजकर्मफलं] अपने कर्मों के फल को [भुंजानोऽपि] भोगता हुआ भी [मोहेन] मोह से [असुंदरं सुंदरम् अपि] भले और बुरे [भावं करोति] परिणामों को करता है, [सः परं] वह केवल [कर्म जनयति] कर्म को उपजाता (बाँधता) है ।

कर्म-फल में राग-द्वेष रहित के निर्जरा

भुंजंतु वि णिय-कम्म-फ लु जो तहिँ राउ ण जाइ ।
सो णवि बंधइ कम्मु पुणु संचिउ जेण विलाइ ॥80॥

अन्वयार्थ : [निजकर्मफलं] अपने बाँधे हुए कर्मों के फल को [भुंजानोऽपि] भोगता हुआ भी [तत्र] उस फल के भोगने में [यः] जो जीव [रागं] राग-द्वेष को [न याति] नहीं प्राप्त होता [सः] वह [पुनः कर्म] फिर कर्म को [नैव] नहीं [बध्नाति] बाँधता, [येन] जिस (कर्म बंधाभाव परिणाम) से [संचितं] पहले बाँधे हुए कर्म भी [विलीयते] नाश हो जाते हैं ।

परमाणु-मात्र राग-द्वेष भी मुक्ति में बाधक

जो अणु-मेत्तु वि राउ मणि जाम ण मिल्लइ एत्थु ।
सो णवि मुच्चइ ताम जिय जाणंतु वि परमत्थु ॥81॥

अन्वयार्थ : [यः] जो जीव [अणुमात्रं अपि] थोड़ा भी [रागं] राग [मनसि] मन में से [यावत्] जब-तक [अत्र] इस संसार में [न मुंचति] नहीं छोड़ देता है, [तावत्] तब-तक [जीव] हे जीव, [परमार्थं] निज शुद्धात्मतत्त्व को [जानन्नपि] शब्द से केवल जानता हुआ भी [नैव] नहीं [मुच्यते] मुक्त होता ।

आत्म-ज्ञान बिना शास्त्र-ज्ञान और तप से मुक्ति नहीं

बुज्झइ सत्थइँ तउ चरइ पर परमत्थु ण वेइ ।
ताव ण मुंचइ जाम णवि इहु परमत्थु मुणेइ ॥82॥

अन्वयार्थ : [शास्त्राणि] शास्त्रों को [बुध्यते] जानता है, [तपः चरति] और तपस्या करता है, [परं] लेकिन [परमार्थं] परमात्मा को [न वेत्ति] नहीं जानता है, [यावत्] और जबतक [एवं] पूर्व कहे हुए [परमार्थं] परमात्मा को [नैव मनुते] नहीं जानता, [तावत्] तबतक [न मुच्यते] नहीं मुक्त होता है ।

शास्त्र-पढ़ने का प्रयोजन विकल्प-रहितता

सत्थु पढंतु वि होइ जडु जो ण हणेइ वियप्पु ।
देहि वसंतु वि णिम्मलउ णवि मण्णइ परमप्पु ॥83॥

अन्वयार्थ : [यः] जो [शास्त्रं] शास्त्र को [पठन्नपि] पढ़ता हुआ भी [विकल्पम्] विकल्प को [न] [हंति] नहीं दूर करता, वह [जडो भवति] मूर्ख है, वह [देहे] शरीर में [वसंतमपि] रहते हुए भी [निर्मलं परमात्मानम्] निर्मल परमात्मा को [नैव मन्यते] नहीं जानता ।

शास्त्र-ज्ञान का प्रयोजन आत्म-ज्ञान

बोह-णिमित्तेँ सत्थु किल लोइ पढिज्जइ इत्थु ।
तेण वि बोहु ण जासु वरु सो किं मूढु ण तत्थु ॥84॥
अन्वयार्थ : [अत्र लोके] इस लोक में [किल] नियम से [बोधनिमित्तेन] ज्ञान के निमित्त [शास्त्रं] शास्त्र [पठ्यते] पढ़े जाते हैं, [तेनापि] तब भी [यस्य] जिसको [वरः बोधः न] उत्तम ज्ञान नहीं हुआ, [स] वह [किं] क्या [तथ्यम् मूढः न] निस्संदेह मूर्ख नहीं है ?

आत्म-ज्ञान बिना तीर्थ-भ्रमण से मुक्ति नहीं

तित्थइँ तित्थु भमंताहँ मूढहँ मोक्खु ण होइ ।
णाण-विवज्जिउ जेण जिय मुणिवरु होइ ण सोइ ॥85॥
अन्वयार्थ : [तीर्थं तीर्थं] तीर्थ तीर्थ प्रति [भ्रमतां] भ्रमण करनेवाले [मूढानां] मूर्खों को [मोक्षः] मुक्ति [न भवति] नहीं होती, [जीव] हे जीव, [येन] क्योंकि जो [ज्ञानविवर्जितः] ज्ञानरहित हैं, [स एव] वह [मुनिवरः न भवति] मुनिवर नहीं हैं ।

ज्ञानी और मिथ्यादृष्टि मुनि में भेद

णाणिहिँ मूढहँ मुणिवरुहँ अंतरु होइ महंतु ।
देहु वि मिल्लइ णाणियउ जीवइँ भिण्णु मुणंतु ॥86॥
अन्वयार्थ : [ज्ञानिनां] ज्ञानी और [मूढ़ानां मुनिवराणां] मिथ्यादृष्टि मुनियों में [महत् अंतरं] बड़ा भारी भेद [भवति] होता है [ज्ञानी देहम् अपि] ज्ञानी तो शरीर को भी [जीवाद्भिन्नं] जीव से जुदा [मन्यमानः] जानकर [मुचंति] छोड़ देते हैं ।

अज्ञानी धर्म के फल में संसार को चाहता है

लेणहँ इच्छइ मूढु पर भुवणु वि एहु असेसु ।
बहु विह-धम्म-मिसेण जिय दोहिँ वि एहु विसेसु ॥87॥
अन्वयार्थ : [द्वयोः अपिः] दोनों (ज्ञानी और अज्ञानी) में [एष विशेषः] यह भेद है, कि [मूढोः बहुविधधर्ममिषेण] अज्ञानीजन अनेक प्रकार के धर्म के बहाने से [एतद् अशेषम्] इस समस्त [भुवनम् अपि] जगत् को ही [परं लातुं इच्छति] नियम से प्राप्त करने की इच्छा करता है ।

अज्ञानी शिष्य-पुस्तकादिक से हर्षित होता है

चेल्ला-चेल्ली-पुत्थियहिँ तूसइ मूढु णिभंतु ।
एयहिँ लज्जइ णाणियउ बंधहँ हेउ मुणंतु ॥88॥
अन्वयार्थ : [मूढः] अज्ञानीजन [निर्भ्रान्तः] निस्संदेह [शिष्यार्जिकापुस्तकैः] शिष्य, आर्यिका, ग्रंथादिक के करने से [तुष्यति] हर्षित होता है, [ज्ञानी] और ज्ञानी [एतैः लज्जते] इनसे शरमाता है, और [बंधस्य हेतुं जानन्] बंध का कारण जानता है ।

अज्ञानी के ख्याति-लाभ-पूजा द्वारा संसार

चट्टहिँ पट्टहिँ कुंडियहिँ चेल्ला-चेल्लियएहिँ ।
मोहु जणेविणु मुणिवरहँ उप्पहि पाडिय तेहिँ ॥89॥
अन्वयार्थ : [चट्टैः पट्टैः कुंडिकाभिः] पीछी, कमंडल, पुस्तक और [शिष्यार्जिकाभिः] शिष्य, अर्जिका, श्राविका इत्यादि [मुनिवराणां] मुनिवरों को [मोहं जनयित्वा] मोह उत्पन्न कराके [तैः उत्पथे] वे उन्मार्ग (खोटे मार्ग) में [पातिताः] डाल देते हैं ।

द्रव्यलिंगी अपने-आप को ठगता है

केण वि अप्पउ वंचियउ सिरु लुंचिवि छारेण ।
सयल वि संग ण परिहरिय जिणवर-लिंगधरेण ॥90॥
अन्वयार्थ : [केनापि] जिस किसी ने [जिनवरलिंगणधरेण] जिनवर का भेष धारण करके [क्षारेण] भस्म से [शिरः] शिर के केश

[लुंचित्वा] लौंच किये, (उखाड़े) लेकिन [सकला अपि संगाः] सब परिग्रह [न परिहृताः] नहीं छोड़े, उसने [आत्मा] अपनी आत्मा को ही [वंचितः] ठग लिया ।

द्रव्यलिंगी छोड़कर फिर ग्रहण कर लेता है

जे जिण-लिंगु धरेवि मुणि इट्ठ-परिग्गह लेंति ।
छद्दि करेविणु ते जि जिय सा पुणु छद्दि गिलंति ॥91॥

अन्वयार्थ : [ये मुनयः] जो मुनि [जिनलिंगं धृत्वापि] जिनलिंग को ग्रहण करके भी [इष्टपरिग्रहान्] इच्छित परिग्रहों को [लांति] ग्रहण करते हैं, [जीव] हे जीव, [ते एव] वे ही [छर्दिं कृत्वा] वमन करके [पुनः] फिर [तां छर्दिं गिलंति] उस वमन को पीछे निगलते हैं ।

ख्याति-लाभ के लिए परमात्मा को छोड़ना तुच्छ-बुद्धि

लाहहँ कित्तिहि कारणिण जे सिव-संगु चयंति ।
खीला-लग्गिवि ते वि मुणि देउलु देउ डहंति ॥92॥

अन्वयार्थ : [ये लाभस्य] जो लाभ और [कीर्तिः कारणेन] कीर्ति के कारण [शिवसंगं] परमात्मा के ध्यान को [त्यजंति] छोड़ देते हैं, [ते अपि मुनयः] वे ही मुनि [कीलानिमित्तं] लोहे के कीले के लिए [देवकुलं] देवस्थान को तथा [देवं] आत्मदेव को [दहंति] (भव की आताप से) भस्म कर देते हैं ।

मिथ्यादृष्टि परमार्थ से अनिभिज्ञ

अप्पउ मण्णइ जो जि मुणि गुरुयउ गंथहि तत्थु ।
सो परमत्थे जिणु भणइ णवि बुज्झइ परमत्थु ॥93॥

अन्वयार्थ : [य एव मुनिः] जो भी मुनि [ग्रंथैः] परिग्रह से [आत्मानं] अपने को [गुरकं] महंत (बड़ा) [मन्यते] मानता है, [तथ्यम्] निश्चय से [सः] वह [परमार्थेन] वास्तव में [परमार्थम्] परमार्थ को [नैव बुध्यते] नहीं जानता, [जिनः भणति] ऐसा जिनेश्वरदेव कहते हैं ।

परमार्थ से सभी जीव समान

बुज्झंतहँ परमत्थु जिय गुरु लहु अत्थि ण कोइ ।
जीवा सयल वि बंभु परु जेण वियाणइ सोइ ॥94॥

अन्वयार्थ : [जीव] हे जीव, [परमार्थं] परमार्थ को [बुध्यमानानां] समझने वालों के [कोऽपि] कोई भी [गुरुः लघुः] बड़ा छोटा [न अस्ति] नहीं है, [सकला अपि] सभी [जीवाः] जीव [परब्रह्म] परब्रह्मस्वरूप हैं, [येन] ऐसा [सोऽपि] वह भी [विजानाति] जानता है ।

परमार्थ से जीवों में शरीर-कृत भेद नहीं

जो भत्तउ रयण-त्तयह तसु मुणि लक्खणु एउ ।
अच्छुउ कहिँ वि कुडिल्लियइ सो तसु करइ ण भेउ ॥95॥

अन्वयार्थ : [यः रत्नत्रयस्य] जो रत्नत्रय की [भक्तः] आराधना (सेवा) करनेवाला है, [तस्य] उसके [इदम् लक्षणं] यह लक्षण [मन्यस्व] जानना कि [कस्यामपि कुडयां] किसी शरीर में जीव [तिष्ठतु] रहे, [सः तस्य भेदम्] वह उसमें भेद [न करोति] नहीं करता ।

केवलज्ञानी तीन-लोक के जीवों को सामान देखते हैं

जीवहँ तिहुयण-संठियहँ मूढा भेउ करंति ।
केवल-णाणिं णाणि फुडु सयलु वि एक्कु मुणंति ॥96॥

अन्वयार्थ : [त्रिभुवनसंस्थितानां] तीन भुवन में रहनेवाले [जीवानां] जीवों का [मूढाः भेदं कुर्वंति] मूर्ख ही भेद करते हैं, और [ज्ञानिनः] ज्ञानी जीव [केवलज्ञानेन] केवलज्ञान से [स्फुटं] प्रगट [सकलमपि] सब जीवों को [एकं मन्यंते] समान जानते हैं ।

परमार्थ दृष्टि से जीव

जीवा सयल वि णाण-मय जम्मण-मरण-विमुक्क ।

जीव-पएसहिँ सयल सम सयल वि सगुणहिँ एक्क ॥97॥

अन्वयार्थ : [सकला अपि जीवाः] सब ही जीव [ज्ञानमयाः] ज्ञानमयी हैं, और [जन्ममरणविमुक्ताः] जन्म-मरण सहित [जीवप्रदेशैः] अपने अपने प्रदेशों से [सकलाः समाः] सब समान हैं, [अपि] और [सकलाः] सब जीव [स्वगुणैः एके] अपने केवलज्ञानादि गुणों से समान हैं ।

सभी जीव दर्शन-ज्ञानमयी

जीवहँ लक्खणु जिणवरहि भासिउ दंसण-णाणु ।

तेण ण किज्जइ भेउ तहँ जइ मणि जाउ विहाणु ॥98॥

अन्वयार्थ : [जीवानां लक्षणं] जीवों का लक्षण [जिनवरैः] जिनेंद्रदेव ने [दर्शनंज्ञानं] दर्शन और ज्ञान [भाषितं] कहा है, [तेन] इसलिए [तेषां] उन जीवों में [भेदः] भेद [न क्रियते] मत कर, [यदि] अगर [मनसि] तेरे मन में [विभातः जातः] ज्ञानरूपी सूर्य का उदय हो गया है ।

शुद्ध-जानने वाले जीवों में भेद नहीं करते

बंभहँ भुवणि वसंताहँ जे णवि भेउ करंति ।

ते परमप्प-पयासयर जोइय विमलु मुणंति ॥99॥

अन्वयार्थ : [भुवने] इस लोक में [वसन्तः] रहनेवाले [ब्रह्मणः] जीवों का [भेदं नैव कुर्वति] भेद नहीं करते हैं, [ते परमात्मप्रकाशकराः] वे परमात्मा के प्रकाश करनेवाले [योगिन्] योगी, [विमलं] शुद्ध [जानंति] जानते हैं ।

जो साधु जीवों को सामान देखते हैं वे मुक्त होते हैं

राय-दोस बे परिहरिवि जे सम जीव णियंति ।

ते सम-भावि परिट्ठिया लहु णिव्वाणु लहंति ॥100॥

अन्वयार्थ : [ये रागद्वेषौ परिहृत्य] जो राग और द्वेष को दूर होने से [जीवाः समाः] सब जीवों को समान [निर्गच्छंति] जानते हैं, [ते] वे साधु [समभावे] समभाव में [प्रतिष्ठिताः] विराजमान [लघु] शीघ्र ही [निर्वाणं] मोक्ष को [लभंते] पाते हैं ।

सभी जीवों का निज-लक्षण दर्शन और ज्ञान

जीवहँ दंसणु णाणु जिय लक्खणु जाणइ जो जि ।

देह-विभेएँ भेउ तहँ णाणि कि मण्णइ सो जि ॥101॥

अन्वयार्थ : [जीवानां] जीवों के [दर्शनं ज्ञानं] दर्शन और ज्ञान [लक्षणं] निज-लक्षण को [य एव] जो कोई [जानाति] जानता है, [जीव] हे जीव, [स एव ज्ञानी] वही ज्ञानी [देहविभेदेन] देह के भेद से [तेषां भेदं] उन जीवों के भेद को [किं मन्यते] क्या मान सकता है ?

शरीरों के भेद से जीवों में भेद देखना मिथ्यादृष्टि

देह-विभेयइँ जो कुणइ जीवइँ भेउ विचित्तु ।

सो णवि लक्खणु मुणइ तहँ दंसणु णाणु चरित्तु ॥102॥

अन्वयार्थ : [यः] जो [देहविभेदेन] शरीरों के भेद से [जीवानां] जीवों का [विचित्रम्] नानारूप [भेदं] भेद [करोति] करता है, [स] वह [तेषां] उन जीवों का [दर्शनं ज्ञानं चारित्रम्] दर्शन-ज्ञान-चारित्र [लक्षणं] लक्षण [नैव मनुते] नहीं जानता ।

शारीरिक अवस्था कर्म-कृत

अंगइँ सुहुमइँ बादरइँ विहिवसिँ होंति जे बाल ।

जिय पुणु सयल वि तित्तडा सव्वत्थ वि सयकाल ॥103॥

अन्वयार्थ : [सूक्ष्माणि बादराणि] सूक्ष्म और बादर [अंगानि] शरीर [ये बालाः] तथा जो बाल, वृद्ध, तरुणादि अवस्थायें [विधिवशेन] कर्मों से [भवंति] होती हैं, [पुनः] और [जीवाः] जीव तो [सकला अपि] सभी [सर्वत्र] सब जगह [सर्वकाले अपि] और सब काल में [तावंतः] उतने प्रमाण (असंख्यातप्रदेशी) ही है ।

शत्रु-मित्र, अपने-पराए में एकपना करना सम्यग्दर्शन

सत्तु वि मित्तु वि अप्पु परु जीव असेसु विएइ ।
एक्कु करेविणु जो मुणइ सो अप्पा जाणेइ ॥104॥

अन्वयार्थ : [एते अशेषा अपि] ये सभी [जीवाः] जीव हैं, उनमें से [शत्रुरपि] शत्रु में भी, [मित्रम् अपि] मित्र में भी, [आत्मा] अपने, और [परः] पराए में [यः] जो [एकत्वं कृत्वा] निश्चय से एकपना करता है, [सः आत्मानं] वह आत्मा को [जानाति] जानता है ।

समभाव संसार-समुद्र के लिए नाव के समान

जो णवि मण्णइ जीव जिय सयल वि एक्क-सहाव ।
तासु ण थक्कइ भाउ समु भव-सायरि जो णाव ॥105॥

अन्वयार्थ : [जीव] हे जीव, [यः सकलानपि जीवान्] जो सब ही जीवों को [एकस्वभावान्] एक स्वभाववाले [नैव मन्यते] नहीं जानता, [तस्य] उसके [समः भावः] समभाव [न तिष्ठति] नहीं रहता, [यः] जो (समभाव) [भवसागरे] संसार-समुद्र के लिए [नौः] नाव के समान है ।

जीवों में भेद करने वाला कर्म जीव नहीं

जीवहँ भेउ जि कम्म-किउ कम्मु वि जीउ ण होइ ।
जेण विभिण्णउ होइ तहँ कालु लहेविणु कोइ ॥106॥

अन्वयार्थ : [जीवानां भेदः] जीवों में (नर-नारकादि) भेद [कर्मकृत एव] कर्मों से ही किया गया है, और [कर्म अपि] कर्म भी [जीवः न भवति] जीव नहीं हो सकता [येन] क्योंकि (वह जीव) [कमपि कालं लब्ध्वा] किसी समय को पाकर [तेभ्यः विभिन्नः भवति] उन (कर्मों) से जुदा हो जाता है ।

ब्राह्मणादि वर्ण-भेद भी मत कर

एक्कु करे मण बिण्णि करि मं करि वण्णविसेसु ।
इक्कइँ देवइँ जेँ वसह तिहुयणु एहु असेसु ॥107॥

अन्वयार्थ : [एकं कुरु] एक करके [मा द्वौ कार्षीः] राग और द्वेष मत कर, [वर्णविशेषम्] ब्राह्मणादि वर्ण-भेद को भी [मा कार्षीः] मत कर, [येन] क्योंकि [एकेन देवेन] एक देव में [एतद् अशेषम्] ये सब [त्रिभुवनं] तीनलोक [वसति] बसता है ।

आत्मज्ञ पर-द्रव्य के सम्बन्ध को छोड़ देते हैं

परु जाणंतु वि परम-मुणि पर-संसग्गु चयंति ।
पर-संगइँ परमप्पयहँ लक्खहँ जेण चलंति ॥108॥

अन्वयार्थ : [परममुनयः] परममुनि [परं जानंतोऽपि] उत्कृष्ट (आत्म-द्रव्य को) जानते हुए भी [परसंसर्गं] पर-द्रव्य (द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म) के सम्बन्ध को [त्यजंति] छोड़ देते हैं [येन] क्योंकि [परसंगेन] पर-द्रव्य के सम्बन्ध से [लक्ष्यस्य] ध्यान करने योग्य जो [परमात्मनः] परमपद उससे [चलंति] चलायमान हो जाते हैं ।

जिनके समभाव नहीं उनका संग मत कर

जो सम-भावहँ बाहिरउ तिं सहुं मं करि संगु ।
चिंता-सायरि पडहि पर अण्णु वि डज्झइ अंगु ॥109॥

अन्वयार्थ : [यः] जो [समभावात्] समभाव से [बाह्य] बाहर हैं [तेन सह] उनके साथ [संगम् मा कुरु] संग मत कर [चिंतासागरे पतसि] चिंतारूपी समुद्र में पड़ेगा, [परं अन्यदपि] केवल और भी [अंगः दह्यते] शरीर दाह को प्राप्त होगा ।

कुसंग से दुःख का उदाहरण

भल्लाहँ वि णासंति गुण जहँ संसग्ग खलेहिं ।
वइसाणरु लोहहँ मिलिउ तें पिट्टियइ घणेहिं ॥110॥

अन्वयार्थ : [खलैः सह येषां] दुष्टों के साथ जिनका [संसर्गः] संबंध है, वह [भद्राणाम् अपि] उन विवेकी जीवों के भी [गुणाः नश्यन्ति] (सत्य शीलादि) गुण नष्ट हो जाते हैं, जैसे [वैश्वानरः लोहेन] आग लोहे से [मिलितः] मिल जाती है, [तेन घनैः पिट्टयते] तभी घनों (हथौड़ों) से पीटी (कूटी) जाती है ।

भिक्षा में स्वादयुक्त आहार की इच्छा मत कर

काऊण णग्गरूवं बीभस्सं दड्ढ-मडय-सारिच्छं ।
अहिलससि किं ण लज्जसि भिक्खाए भोयणं मिट्ठं ॥111-अ॥

अन्वयार्थ : [बीभत्सं] भयानक देह के मैल से युक्त [दग्धमृतकसदृशम्] जले हुए मुरदे के समान रूपरहित ऐसे [नग्नरूपं] वस्त्र रहित नग्नरूप को [कृत्वा] धारण करके [भिक्षायां] भिक्षा में [मिष्टम् भोजनं अभिलषसि] स्वादयुक्त आहार की इच्छा करता है, [किं न लज्जस] तुझे लाज क्यों नहीं आती ?

भोजन की लोलुपता को त्याग

जइ इच्छसि भो साहू बारह-विह-तवहलं महा-विउलं ।
तो मण-वयणे काए भोयण-गिद्धी विवज्जेसु ॥111-ब॥

अन्वयार्थ : [भो साधो] हे योगी, [यदि] जो [द्वादशविधतपः फलं] (बारह प्रकार) तप का फल [महद्विपुलं] बड़ा भारी स्वर्ग मोक्ष [इच्छसि] चाहता है, [ततः] तो [मनोवचनयोः] मन, वचन और [काये] काय से [भोजनगृद्धिं] भोजन की लोलुपता को [विवर्जयस्व] त्याग दे ।

मुनि भोजन में गृद्धता न करे

जे सरसिं संतुट्ठ-मण विरसि कसाउ वहंति ।
ते मुणि भोयण-घार गणि णवि परमत्थु मुणंति ॥111-स॥

अन्वयार्थ : [ये सरसेन] जो स्वादिष्ट आहार से [संतुष्टमनसः] हर्षित होते हैं, और [विरसे] नीरस आहार में [कषायं वहंति] क्रोधादि कषाय करते हैं, [ते मुनयः] उन मुनि को [भोजन गृध्राः] भोजन के विषय में गृद्ध-पक्षी के समान [गणय] जानना, वे [परमार्थं] परमतत्त्व को [नैव मन्यंते] नहीं समझते हैं ।

मोह दुख का कारण देख और छोड़

जोइय मोहु परिच्चयहि मोहु ण भल्लउ होइ ।
मोहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ॥111॥

अन्वयार्थ : [योगिन्] हे योगी ! [मोहं] मोह को [परित्यज] बिलकुल छोड़, [मोहः भद्रः न भवति] मोह अच्छा नहीं होता है, [मोहासक्तं] मोह से आसक्त [सकलं जगत्] सब जगत् जीवों को [दुःखं सहमानं पश्य] क्लेश भोगते हुए देख ।

इन्द्रिय-विषयों को त्याग

रूवि पयंगा सद्दि मय गय फासहिँ णासंति ।
अलिउल गंधइँ मच्छ रसि किम अणुराउ करंति ॥112॥

अन्वयार्थ : [रूपे पतंगा] रूप से पतंगा, [शब्दे मृगाः] शब्द से हिरण, [गजाः स्पर्शैः] स्पर्श से हाथी [नश्यंति] मारे जाते हैं [गंधेन अलिकुलानि] सुगंध से भौंरे [रसे मत्स्याः] रस से मच्छ [किं] क्यों [अनुरागं] प्रीति [कुर्वंति] करते हैं ?

लोभ को दुःख का करण देख और त्याग

जोइय लोहु परिच्चयहि लोहु ण भल्लउ होइ ।

लोहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ॥113॥

अन्वयार्थ : [योगिन्] हे योगी, [लोभं परित्यज] लोभ छोड, [लोभो] लोभ [भद्रः न भवति] अच्छा नहीं है, [लोभासक्तं] लोभ में फँसे हुए [सकलं जगत्] सम्पूर्ण जगत् को [दुःखं सहमानं] दुःख सहते हुए [पश्य] देख ।

उदाहरण

तलि अहिरणि वरि घण-वडणु संडस्सय-लुंचोडु ।

लोहहँ लग्गिवि हुयवहहँ पिक्खु पडंतउ तोडु ॥114॥

अन्वयार्थ : [लोहं लगित्वा] जैसे लोहे का संबंध पाकर [हुतवहं] अग्नि [तले] नीचे रक्खे हुए [अधिकरणं उपरि] अहरन (निहाई) के ऊपर [घनपातनं] घन की चोट, [संदशकुलुंचनम्] संडासी से खेंचते हुए, [पतत् त्रोटनम्] चोट लगने से टूटते हुए [पश्य] देख ।

स्नेह को दुःख का कारण देख और त्याग

जोइय णेहु परिच्चयहि णेहु ण भल्लउ होइ ।

णेहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ॥115॥

अन्वयार्थ : [योगिन्] हे योगी, [स्नेहं] स्नेह (प्रेम) को [परित्यज] छोड़, [स्नेहः] क्योंकि स्नेह [भद्रः न भवति] अच्छा नहीं है, [स्नेहासक्तं] स्नेह में लगा हुआ [सकलं जगत्] समस्त संसारी जीवों को [दुःखं सहमानं] दुःख सहते हुए [पश्य] देख ।

उदाहरण

जल-सिंचणु पय-णिद्दलणु पुणु पुणु पीलण-दुक्खु ।

णेहहँ लग्गिवि तिल-णियरु जंति सहंतउ पिक्खु ॥116॥

अन्वयार्थ : [तिलनिकरं] जैसे तिलों का समूह [स्नेहं लगित्वा] स्नेह (चिकनाई) के सम्बन्ध से [जलसिंचनं] जल से भीगना, [पादनिर्दलनं] पैरों से खुँदना, [यंत्रेण] घानी में [पुनः पुनः] बार बार [पीडनदुःखम्] पिलने का दुख [सहमानं] सहते हुए [पश्य] देखो ।

जो विषयों में आसक्त नहीं, वे धन्य

ते चिय धण्णा ते चिय सप्पुरिसा ते जियंतु जिय-लोए ।

वोद्दह-दहम्मि पडिया तरंति जे चेव लीलाए ॥117॥

अन्वयार्थ : [ते चैव धन्याः] वे ही धन्य हैं, [ते चैव सत्पुरुषाः] वे ही सज्जन हैं, और [ते] वे ही [जीवलोके] इस जीव-लोक में [जीवंतु] जीते हैं, [ये चैव] जो [यौवनद्रहे] जवान अवस्थारूपी बड़े भारी तालाब में [पतिताः] पड़कर [लीलया] लीला मात्र (खेल-खेल) में ही [तरंति] तैर जाते हैं ।

जिनेश्वरदेव ने भी राज्य-वैभव छोड़कर मोक्ष को साधा

मोक्खु जि साहिउ जिणवरहिँ छंडिवि बहु-विहु रज्जु ।

भिक्ख-भरोडा जीव तुहुँ करहि ण अप्पउ कज्जु ॥118॥

अन्वयार्थ : [जिनवरैः] जिनेश्वरदेव ने [बहुविधं] अनेक प्रकार का [राज्यम्] राज्य का वैभव [त्यक्त्वा] छोड़कर [मोक्ष एव साधितः] मोक्ष को ही साधा, परंतु [जीव] हे जीव, [भिक्षाभोजन त्वं] भीक्षा से भोजन करनेवाला तू [आत्मीयं कार्यम्] अपने आत्मा का कल्याण भी [न

करोषि] नहीं करता ।

संसार में सिर्फ दुःख, मोक्ष को जा ।

पावहि दुक्खु महंतु तुहँ जिय संसारि भमंतु ।
अट्ठ वि कम्मइँ णिद्दलिवि वच्चहि मुक्खु महंतु ॥119॥

अन्वयार्थ : [जीव] हे जीव, [त्वं संसारे] तू संसार में [भ्रमन्] भटकता हुआ [महद् दुःखं प्राप्नोषि] महान् दुःख पावेगा, इसलिए [अष्टापि कर्माणि] (ज्ञानावरणादि) आठों ही कर्मों को [निर्दल्य] नाश कर, [महांतम् मोक्षं व्रज] सबमें श्रेष्ठ मोक्ष को जा ।

दुःख-रुपी कर्म को मत कर

जिय अणु-मित्तु वि दुक्खडा सहण ण सक्कहि जोइ ।
चउ-गइ-दुक्खहँ कारणइँ कम्मइँ कुणहि किं तोइ ॥120॥

अन्वयार्थ : [जीव] जीव ! [अणुमात्राण्यपि] परमाणु-मात्र (थोड़े) भी [दुःखानि सोढुं] दुःख-सहन [न शक्नोषि] यदि नहीं कर सकता, [तथापि] तो फिर [चतुर्गतिदुःखानां] चार गतियों के दुःख के [कारणानि कर्माणि] कारण जो कर्म हैं, [किं करोषि] उनको क्यों करता है ?

अज्ञानी कर्मों को करता है

धंधइ पडियउ सयलु जगु कम्मइँ करइ अयाणु ।
मोक्खहँ कारणु एक्कु खणु णवि चिंतइ अप्पाणु ॥121॥

अन्वयार्थ : [धांधे पतितं] जगत् के धंधे में पड़ा हुआ [सकलं जगत्] सब जगत् [अज्ञानि] अज्ञानी हुआ [कर्माणि] ज्ञानावरणादि आठों कर्मों को [करोति] करता है, परन्तु [मोक्षस्य कारणं] मोक्ष के कारण [आत्मानम्] आत्मा का [एकं क्षणं] एक क्षण भी [नैव चिंतयति] चिन्तवन नहीं करता ।

ज्ञान-रहित जीव दुखी

जोणि-लक्खइँ परिभमइ अप्पा दुक्खु सहंतु ।
पुत्त-कलत्तहिँ मोहियउ जाव ण णाणु महंतु ॥122॥

अन्वयार्थ : [यावत्] जब तक [महत् ज्ञानं न] श्रेष्ठ ज्ञान (सम्यग्ज्ञान, आत्मज्ञान) नहीं है, तब तक [आत्मा] यह जीव [पुत्रकलत्रैः मोहितः] पुत्र, स्त्री आदिकों से मोहित हुआ [दुःखं सहमानः] अनेक दुःखों को सहता हुआ [योनिलक्षाणि] चौरासी लाख योनियों में [परिभ्रमति] भटकता फिरता है ।

संयोग कर्माधीन और विनाशीक

जीव म जाणहि अप्पणउँ घरु परियणु तणु इट्ठु ।
कम्मायत्तउ कारिमउ आगमि जोइहिँ दिट्ठु ॥123॥

अन्वयार्थ : [जीव] हे जीव, [गृहं] घर, [परिजनं] परिवार, [तनुः] शरीर [इष्टम्] और मित्रादि को [आत्मीयं] अपने [मा जानीहि] मत जान, क्योंकि [आगमे] परमागम में [योगिभिः] योगियों ने [दृष्टम्] ऐसा दिखलाया है, कि ये [कर्मायत्तं] कर्मों के आधीन हैं, और [कृत्रिमं] विनाशीक है ।

निश्चिन्त होकर तप कर

मुक्खु ण पावहि जीव तुहुँ घरु परियणु चिंतंतु ।
तो वरि चिंतहि तउ जि तउ पावहि मोक्खु महंत्तु ॥124॥

अन्वयार्थ : [जीव त्वं] हे जीव, तू [गृहं परिजनं] घर, परिवार वगैरह की [चिन्तयन्] चिंता करता हुआ [मोक्षं न प्राप्नोषि] मोक्ष नहीं पाएगा,

[ततः] इसलिये [वरं] उत्तम [तपः एव तपः] तप का ही बारम्बार [चिंतय] चिंतवन कर, [महांतम् मोक्षं] श्रेष्ठ मोक्ष को [प्राप्नोषि] पाएगा ।

पाप के फल को अकेले ही भोगना होगा

मारिवि जीवहँ लक्खडा जं जिय पाउ करीसि ।
पुत्त-कलत्तहँ कारणइँ तं तुहुँ एक्कु सहीसि ॥125॥

अन्वयार्थ : [जीवानां लक्षाणि] लाखों जीवों को [मारयित्वा] मारकर [जीव] हे जीव, [यत् पापं करिष्यसि] जो तू पाप करता है, [पुत्रकलत्राणां] पुत्र, स्त्री वगैरह के [कारणेन] कारण [तत् त्वं] उसके फल को तू [एक सहिष्यसे] अकेला सहेगा ।

पाप का फल अनन्त गुणा

मारिवि चूरिवि जीवडा जं तुहुँ दुक्खु करीसि ।
तं तह पासि अणंत-गुणु अवसइँ जीव लहीसि ॥126॥

अन्वयार्थ : [जीव यत् त्वं] हे जीव, जो तू [जीवान् मारयित्वा] जीवों को मारकर, [चूरयित्वा] चूरकर [दुःखं करिष्यसि] दुःखी करता है, [तत्] उसका फल [तदपेक्षया] उसकी अपेक्षा [अनंतगुणं] अनंतगुणा [अवश्यमेव] निश्चय से [लभसे] पावेगा ।

जीवों को अभयदान दे

जीव वहंतहँ णरय-गइ अभय-पदाणेँ सग्गु ।
बे पह जवला दरिसिया जहिँ रुच्चइ तहिँ लग्गु ॥127॥

अन्वयार्थ : [जीवं घ्नतां नरकगतिः] जीवों को मारने से नरकगति और [अभयप्रदानेन स्वर्गः] अभयदान देने से स्वर्ग होता है, [द्वौ पन्थानौ] ये दोनों मार्ग [समीपे दर्शितौ] अपने पास दिखलाये हैं, [यत्र रोचते] जिसमें तेरी रुचि हो, [तत्र लग्न] उसी में लग ।

कर्म-कृत को भ्रम जानकर छोड़

मूढा सयलु वि कारिमउ भुल्लउ मं तुस कंडि ।
सिव-पहि णिम्मलि करहि रइ घरु परियणु लहु छंडि ॥128॥

अन्वयार्थ : [मूढ] हे मूढ ! [सकलमपि कृत्रिमं] सब-कुछ ही कर्म-कृत (विनाशीक, मरणधार्मा) है, [भ्रांतः तुषं मा कंडय] भ्रम (भूल) से भूसे का खंडन मत कर; [निर्मले] परमपवित्र [शिवपथे रतिं कुरु] मोक्ष-मार्ग में प्रीति कर [गृहं परिजनं] और घर-परिवार आदि को [लघु त्यज] शीघ्र ही छोड़ ।

शरीर भी कर्म-कृत

जोइय सयलु वि कारिमउ णिक्कारिमउ ण कोइ ।
जीविं जंतिं कुडि ण गय इहु पडिछंदा जोइ ॥129॥

अन्वयार्थ : [योगिन्] हे योगी, [सकलमपि कृत्रिमं] सभी-कुछ कर्म-कृत (विनश्वर) है, [निःकृत्रिमं किमपि न] अकृत्रिम कुछ भी नहीं है, [जीवेन यातेन] जीव के जाने (मरने) पर [देहो न गतः] शरीर नहीं जाता, [इमं दृष्टांतं पश्य] इसी दृष्टान्त को देख ।

सभी संयोग नष्ट हो जाएँगे

देउलु देउ वि सत्थु गुरु तित्थु वि वेउ वि कव्वु ।
वच्छु जु दीसइ कुसुमियउ इंधणु होसइ सव्वु ॥130॥

अन्वयार्थ : [देवकुलं देवोऽपि] जिनालय, प्रतिमा भी, [शास्त्रं गुरुः तीर्थमपि] आगम, गुरु, तीर्थ-स्थान भी, [वेदोऽपि] वेद भी [काव्यम्] काव्य (गद्य-पद्यरूप रचना इत्यादि) [यद् द्रश्यते कुसुमितं] जो वस्तु अच्छी या बुरी दिखने में आती हैं, वे [सर्वम्] सब [इंधनं भविष्यति] (अग्नि का) ईंधन हो जावेगी ।

एक शुद्धात्मा को छोड़कर सब-कुछ विनाशीक

एक्कु जि मेल्लिवि बंभु परु भुवणु वि एहु असेसु ।
पुहविहिँ णिम्मउ भंगुरउ एहउ बुज्झि विसेसु ॥131॥

अन्वयार्थ : [एकं परं ब्रह्म एव] एक शुद्ध जीव-द्रव्यरूप परब्रह्म को [मुक्त्वा] छोड़कर [पृथिव्यां] इस लोक में [इदं अशेषम् भुवनमपि निर्मापितं] इस समस्त लोक के पदार्थों की रचना है, वह सब [भंगुरं] विनाशीक है, [एतद् विशेषम्] इस विशेष बात को तू [बुध्यस्व] जान ।

धन-यौवन विनाशीक, धर्म कर

जे दिट्ठा सूरुग्गमणि ते अत्थवणि ण दिट्ठ ।
तेँ कारणिं वढ धम्मु करि धणि जोव्वणि कउ तिट्ठ ॥132॥

अन्वयार्थ : [वत्स] हे शिष्य ! [ये] जो कुछ पदार्थ [सूर्योद्गमने] सूर्य के उदय होने पर [दृष्टाः] देखे थे, [ते] वे [अस्तगमने] सूर्य के अस्त होने के समय [न दृष्टाः] नहीं देखे जाते (नष्ट हो जाते हैं) [तेन कारणेन] इस कारण [धर्मं कुरु] धर्म का पालन कर [धने यौवने] धन और यौवन में [का तृष्णा] क्यों तृष्णा करता है ।

शरीर को तप में लगा

धम्मु ण संचिउ तउ ण किउ रुक्खेँ चम्ममएण ।
खज्जिवि जर-उद्देहियए णरइ पडिव्वउ तेण ॥133॥

अन्वयार्थ : [येन] जिसने [चर्ममयेन वृक्षेण] शरीररूपी वृक्ष को पाकर उससे [धर्मः न कृतः] धर्म नहीं किया, [तपो न कृतं] और तप भी नहीं किया, उसका शरीर [जरोद्रेहिकया खादयित्वा] बुढ़ापारूपी दीमक के कीड़े द्वारा खाया जायगा, फिर [तेन] उसे (मरणकर) [नरके] नरक में [पतितव्यं] पड़ना पड़ेगा ।

कुटुम्बी-जन संसार का कारण

अरि जिय जिण-पइ भत्ति करि सुहि सज्जणु अवहेरि ।
तिं बप्पेण वि कज्जु णवि जो पाडइ संसारि ॥134॥

अन्वयार्थ : [अरे जीव] हे भव्य जीव, [जिनपदे] जिनपद में [भक्तिं कुरु] भक्ति कर, [सुखं] संसार-सुख और [स्वजनं] अपने कुटुम्बी-जन को [अपहर] त्याग [तेन पित्रापि नैव कार्यं] उस महा-स्नेहरूप पिता से भी कुछ काम नहीं [यः संसारे पातयति] जो संसार-समुद्र में पटक देवे ।

मनुष्य जन्म पाकर तप करना चाहिए

जेण ण चिण्णउ तव-यरणु णिम्मलु चित्तु करेवि ।
अप्पा वंचिउ तेण पर माणुस-जम्मु लहेवि ॥135॥

अन्वयार्थ : [येन निर्मलं चित्तं कृत्वा] जिसने शुद्ध चित्त करके [तपश्चरणं न चीर्णं] तपश्चरण नहीं किया, [तेन मनुष्यजन्म] उसने मनुष्य-जन्म को [लब्ध्वा] पाकर [परं] केवल [आत्मा वंचितः] अपना आत्मा ठग लिया ।

इन्द्रियों को वश में कर

ए पंचिंदिय-करहडा जिय मोक्कला म चारि ।
चरिवि असेसु वि विसय-वणु पुणु पाडहिँ संसारि ॥136॥

अन्वयार्थ : [एते] ये प्रत्यक्ष [पंचेन्द्रियकरभकाः] पाँच इंद्रियरूपी ऊँट हैं, उनको [स्वेच्छया] अपनी इच्छा से [मा चारय] मत चरने दे, क्योंकि [अशेषं] सम्पूर्ण [विषयवनं] विषय-वन को [चारयित्वा] चरके [पुनः] फिर ये [संसारे] संसार में ही [पातयंति] पटक देंगे ।

इन्द्रिय विजयी ही ध्यानी

सो जोइउ जो जोगवइ दंसणु णाणु चरित्तु ।

होयवि पंचहँ बाहिरउ झायंतउ परमत्थु ॥137-अ॥

अन्वयार्थ : [स योगी] वही ध्यानी है, [यः] जो [पंचभ्यः बाह्यः] पंचेंद्रियों से बाहर (अलग) [भूत्वा] होकर [परमार्थम्] निज परमात्मा का [ध्यायन्] ध्यान करता हुआ [दर्शनं ज्ञानं चारित्रम्] दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूपी रत्नत्रय को [पालयति] पालता है, रक्षा करता है ।

मन को इन्द्रियों के विषयों में जाने से रोक

जोइय विसमी जोय-गइ मणु संठवण ण जाइ ।

इंदिय-विसय जि सुक्खडा तित्थु जि वलि वलि जाइ ॥137॥

अन्वयार्थ : [योगिन्] हे योगी, [योगगतिः] ध्यान की गति [विषमा] महाविषम है, क्योंकि [मनः] चित्त [संस्थापयितुं न याति] स्थिरता को नहीं प्राप्त होता क्योंकि [इंद्रियविषयेषु एव] इन्द्रिय-विषयों में ही [सुखानि] सुख मान रहा है, इसलिये [तत्र एव] उन्हीं विषयों में [पुनः पुनः] फिर फिर [याति] जाता है ।

विषय-सुख में रमणता दुख का कारण

विसय-सुहइँ बे दिवहडा पुणु दुक्खहँ परिवाडि ।

भुल्लउ जीव म वाहि तुहुँ अप्पण खंधि कुहाडि ॥138॥

अन्वयार्थ : [विषयसुखानि] विषय-सुख [द्वे दिवसे] दो दिन के हैं, [पुनः] फिर [दुःखानां परिपाटी] दुःखों की परिपाटी है; [भ्रांत जीव] हे भोले जीव, [त्वं] तू [आत्मनः स्कंधे] अपने कंधे पर [कुठारम्] आप ही कुल्हाड़ी को [मा वाहय] मत चला ।

विषय-भोग के त्यागी धन्य

संता विसय जु परिहरइ बलि किज्जउँ हउँ तासु ।

सो दइवेण जि मुंडियउ सीसु खडिल्लउ जासु ॥139॥

अन्वयार्थ : [यः] जो [सतः विषयान्] विद्यमान विषयों को [परिहरति] छोड़ देता है, [तस्य] उसकी [अहं] मैं [बलिं] पूजा [करोमि] करता हूँ, क्योंकि [यस्य शीर्षं] जिसका शिर [खल्वाटं] गंजा है, [सः] वह तो [दैवेन एव] दैव द्वारा ही [मुंडितः] मूड़ा हुआ है ।

मन इन्द्रियों का स्वामी

पंचहँ णायकु वसिकरहु जेण होंति वसि अण्ण ।

मूल विणट्ठइ तरु-वरहँ अवसइँ सुक्कहिं पण्ण ॥140॥

अन्वयार्थ : [पंचानां नायकं] पाँचों (इन्द्रियों) के स्वामी (मन) को [वशीकुरुत] वश में करो [येन] जिससे [अन्यानि वशे भवंति] अन्य (पाँच इन्द्रियां) वश में हो जाती हैं; [तरुवरस्य] वृक्ष की [मूले विनष्टे] जड़ के नाश हो जाने से [पर्णानि] पत्ते [अवश्यं शुष्यंति] निश्चय से सूख जाते हैं ।

जीतेंद्रिय होकर शुद्धात्मा का अनुभव कर

विसयासत्तउ जीव तुहुँ कित्तिउ कालु गमीसि ।

सिव-संगमु करि णिच्चलउ अवसइँ मुक्खु लहीसि ॥141॥

अन्वयार्थ : [जीव त्वं विषयासक्तः] हे जीव, तू विषयों में आसक्त हो [कियंतं कालं गमिष्यसि] कितना काल गँवाएगा [शिवसंगमं] अब तो शुद्धात्मा का अनुभव [निश्चलं कुरु] निश्चल होकर कर, [अवश्यं मोक्षं लभसे] अवश्य मोक्ष को प्राप्त करेगा ।

आत्म-ज्ञान बिना दुःख

इहु सिव-संगमु परिहरिवि गुरुवड कहिँ वि म जाहि ।
जे सिव-संगमि लीण णवि दुक्खु सहंता वाहि ॥142॥
अन्वयार्थ : [गुरुवर] हे तपोधन, [शिवसंगमं] आत्म-कल्याण को [परिहृत्य] छोड़कर [क्वापि] तू कहीं भी [मा गच्छ] मत जा, [ये शिवसंगमे] जो निजभाव में [नैव लीनाः] लीन नहीं हैं, उन्हें [दुःखं सहमानाः पश्य] दुःख को सहते हुए देख ।

आज तक सम्यक्त्व नहीं ग्रहण किया

कालु अणाइ अणाइ जिउ भव-सायरु वि अणंतु ।
जीविं बिण्णि ण पत्ताइँ जिणु सामिउ सम्मत्तु ॥143॥
अन्वयार्थ : [कालः अनादिः] काल अनादि है, [जीवः अनादिः] जीव भी अनादि है, और [भवसागरोऽपि] संसार-समुद्र भी [अनंतः] अनादि-अनंत है । लेकिन [जीवेन] इस जीव ने [जिनः स्वामी सम्यक्त्वम्] जिनराज-स्वामी और सम्यक्त्व [द्वे न प्राप्ते] ये दो नहीं पाये ।

घर-वास पाप वास है

घर-वासउ मा जाणि जिय दुक्किय-वासउ एहु ।
पासु कयंतेँ मंडियउ अविचलु णिस्संदेहु ॥144॥
अन्वयार्थ : [जीव] हे जीव, तू इसको [गृहवासं] घर-वास [मा जानीहि] मतजान, [एषः] यह [दुष्कृतवासः] पाप का निवास-स्थान है, [कृतांतेन] यमराज ने (काल ने) [पाशःमंडितः] अनेक फाँसों से मंडित [अविचलः] बहुत मजबूत (बंदीखाना) बनाया है, इसमें [निस्संदेहम्] सन्देह नहीं है ।

पर में ममत्व मत कर

देहु वि जित्थु ण अप्पणउ तहिँ अप्पणउ किं अण्णु ।
पर-कारणि मण गुरुव तुहुँ सिव-संगमु अवगण्णु ॥145॥
अन्वयार्थ : [यत्र] जहाँ [देहोऽपि] शरीर भी [आत्मीयः न] अपना नहीं है, [तत्र] उसमें [अन्यत्] अन्य [आत्मीयं किं] क्या अपना हो सकता है ? [त्वं] इस कारण तू [शिवसंगमं] मोक्ष का संगम [अवगण्य] छोड़कर [परकारणे] पर (पुत्र, स्त्री, वस्त्र, आभूषण आदि) उपकरणों में [मा मुह्य] ममत्व मत कर ।

शुद्धात्मा को छोड़ कुछ और भावना मत कर

करि सिव-संगमु एक्कु पर जहिँ पाविज्जइ सुक्खु ।
जोइय अण्णु म चिंति तुहुँ जेण ण लब्भइ मुक्खु ॥146॥
अन्वयार्थ : [योगिन्] हे योगी ! [त्वं एकं शिवसंगमं] तू एक निजशुद्धात्मा की ही भावना [परं] केवल [कुरु] कर, [यत्र] जिसमें कि
[सुखम् प्राप्येत]
अतीन्द्रिय सुख पावे, [अन्यं मा] अन्य कुछ भी मत [चिंतय] चिंतवन कर, [येन] जिससे कि [मोक्षः न लभ्यते] मोक्ष न मिले ।

शरीर असार है

बलि किउ माणुस-जम्मडा देक्खंतहँ पर सारु ।
जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु ॥147॥
अन्वयार्थ : [मनुष्यजन्म] इस मनुष्य-जन्म को [बलिः क्रियते] मोक्ष के लिए समर्पित करो, जो कि [पश्यतां परं सारम्] देखने में केवल सार दिखता है, [यदि अवष्टभ्यते] जो इस मनुष्य-देह को भूमि में गाड़ दिया जावे, [ततः] तो [क्वथति] सड़कर दुर्गन्धरूप परिणमे, [अथ] और जो [दह्यते] जलाईये [तर्हि] तो [क्षारः] राख हो जाता है ।

शरीर अशुचि है

उव्वलि चोप्पडि चिट्ठ करि देहि सु-मिट्ठाहार ।

देहहँ सयल णिरत्थ गय जिमु दुज्जणि उवयार ॥148॥

अन्वयार्थ : [देहस्य] इस देह का [उद्वर्तय] उबटना करो, [म्रक्षय] तैलादिक का मर्दन करो, [चेष्टां कुरु] श्रृंगार आदि से अनेक प्रकार सजाओ, [सुमृष्टाहारान्] अच्छे-अच्छे मिष्ट आहार [देहि] दो, लेकिन [सकलं] ये सब [निरर्थ गतं] यत्न व्यर्थ हैं, [यथा] जैसे [दुर्जने] दुर्जनों का [उपकाराः] उपकार करना वृथा है ।

अशुचि शरीर से प्रीति मत कर

जेहउ जज्जरु णरय-घरु तेहउ जोइय काउ ।

णरइ णिरंतरु पूरियउ किम किज्जइ अणुराउ ॥149॥

अन्वयार्थ : [योगिन्] हे योगी, [यथा] जैसा [जर्जरं] सैकड़ों छेदोंवाला [नरकगृहं] नरक-घर है, [तथा] वैसे [नरके] मल-मूत्रादि से [निरंतरं] हमेशा [पूरितं] भरा हुए [कायः] शरीर से [अनुरागः] प्रीति [किं क्रियते] कैसे की जावे ?

शरीर पाप, दुःख और अशुचि से निर्मित

दुक्खइँ पावइँ असुचियइँ तिहुयणि सयलइँ लेवि ।

एयहिँ देहु विणिम्मियउ विहिणा वइरु मुणेवि ॥150॥

अन्वयार्थ : [त्रिभुवने] तीन लोक के [दुःखानि पापानि अशुचीनि] दुःख, पाप, और अशुचिता [सकलानि लात्वा] सबको लेकर [एतैः] इन मिले हुओं से [विधिना] विधाता (कर्म) ने [वैरं] वैर [मत्वा] मानकर [देहः] शरीर [निर्मितः] बनाया है ।

देह से नहीं धर्म से प्रीति कर

जोइय देहु घिणावणउ लज्जहि किं ण रमंतु ।

णाणिय धम्में रइ करहि अप्पा विमलु करंतु ॥151॥

अन्वयार्थ : [योगिन्] हे योगी ! [देहः] यह शरीर [धृणास्पदः] घिनावना है, [रममाणः] इस देह से रमते हुए [किं न लज्जसे] लाज नहीं आती ? [ज्ञानिन्] हे ज्ञानी ! [आत्मानं] आत्मा को [विमलं कुर्वन्] निर्मल करने वाले [धर्मे] धर्म से [रतिं] प्रीति [कुरु] कर ।

आत्मा को ज्ञानादि गुणमय देख

जोइय देहु परिच्चयहि देहु ण भल्लउ होइ ।

देह-विभिण्णउ णाणमउ सो तुहुँ अप्पा जोइ ॥152॥

अन्वयार्थ : [योगिन्] हे योगी ! [देहं परित्यज] शरीर से प्रीति छोड़, [देहः भद्रः न भवति] यह देह अच्छा नहीं है, [देहविभिन्नं ज्ञानमयं] देह से भिन्न ज्ञानादि गुणमय [तं आत्मानं] ऐसे आत्मा को [त्वं पश्य] तू देख ।

देह दुःख का कारण अत: ममत्व त्याग

दुक्खहँ कारणु मुणिवि मणि देहु वि एहु चयंति ।

जित्थु ण पावहिँ परम-सुहु तित्थु कि संत वसंति ॥153॥

अन्वयार्थ : [दुःखस्य कारणं] (नरकादि) दुःख का कारण [इमं देहमपि] इसदेह को [मनसि] मन में [मत्वा] जानकर ज्ञानी जीव [त्यजंति] इसका ममत्व छोड़ देते हैं, क्योंकि [यत्र] जिस देहमें [परमसुखं न प्राप्नुवंति] उत्तम सुख नहीं पाते, [तत्र संतः किं वसंति] उसमें सत्पुरुष कैसे रह सकते हैं ?

इन्द्रियाधीन सुख की जगह आत्माधीन सुख को देख

अप्पायत्तउ जं जि सुहु तेण जि करि संतोसु ।
पर सुहु वढ चिंतंताहँ हियइ ण फि ट्टइ सोसु ॥154॥
अन्वयार्थ : [वत्स] हे शिष्य ! [यदेव जो आत्मायत्तं सुखं] पर-द्रव्य से रहित आत्माधीन सुख है, [तेनैव] उसी में [संतोषम्] संतोष [कुरु] कर, [परं सुखं] इन्द्रियाधीन सुख का [चिंतयतां] चिन्तवन करने वालों के [हृदये शोषः] चित्त-दाह [न नश्यति] नहीं मिटता ।

ज्ञान को छोड़कर कुछ भी आत्मा नहीं

अप्पहँ णाणु परिच्चयवि अण्णु ण अत्थि सहाउ ।
इउ जाणेविणु जोइयहु परहँ म बंधउ राउ ॥155॥
अन्वयार्थ : [आत्मनः ज्ञानं] आत्म का ज्ञान को [परित्यज्य] छोड़कर [अन्यः स्वभावः] दूसरा स्वभाव [न अस्ति] नहीं है, [इदं ज्ञात्वा] ऐसा जानकर [योगिन्] हे योगी ! [परस्मिन्] पर-वस्तु से [रागम्] प्रीति [मा बधान] मत बाँध ।

स्थिर चित्त द्वारा आत्मा प्रत्यक्ष

विसय-कसायहिँ मण-सलिलु णवि डहुलिज्जइ जासु ।
अप्पा णिम्मलु होइ लहु वढ पच्चक्खु वि तासु ॥156॥
अन्वयार्थ : [यस्य मनः सलिलं] जिसका मनरूपी जल [विषयकषायैः] विषयकषायरूप प्रचंड पवन से [नैव क्षुभ्यते] नहीं चलायमान होता है, [तस्य] उसी भव्य जीव की [आत्मा] आत्मा [वत्स] हे शिष्य ! [निर्मलो भवति] निर्मल होती है, और [लघु प्रत्यक्षोऽपि] शीघ्र ही प्रत्यक्ष हो जाती है ।

योग द्वारा मन को वश में कर

अप्पा परहँ ण मेलविउ मणु मारिवि सहस त्ति ।
सो वढ जाएँ किं करइ जासु ण एही सत्ति ॥157॥
अन्वयार्थ : [सहसा मनः मारयित्वा] शीघ्र ही मन को वश में करके [आत्मा] आत्मा को [परस्य न मेलितः] पर में नहीं मिलाया, [वत्स] हे शिष्य, [यस्य ईदृशी] जिसकी ऐसी [शक्तिः न] शक्ति नहीं है, [सः योगेन] वह योग से [किं करोति] क्या कर सकता है ?

आत्म-ध्यान द्वारा ही केवलज्ञान

अप्पा मेल्लिवि णाणमउ अण्णु जे झायहिँ झाणु ।
वढ अण्णाण-वियंभियहँ कउ तहँ केवल-णाणु ॥158॥
अन्वयार्थ : [ज्ञानमयं आत्मानं मुक्त्वा] ज्ञानमयी आत्मा को छोड़कर [अन्यद् ये ध्यानम् ध्यायंति] अन्य का ध्यान जो लगाते हैं, [वत्स] हे वत्स, [तेषां अज्ञान विजृंभितानां] उस अज्ञान से मोहित को [केवलज्ञानम् कुतः] केवलज्ञान कैसे हो ?

विकल्प-रहित होकर आत्म-ध्यान करने वाले धन्य

सुण्णउँ पउँ झायंताहँ वलि वलि जोइयडाहँ ।
समरसि-भाउ परेण सहु पुण्णु वि पाउ ण जाहँ ॥159॥
अन्वयार्थ : [शून्यं पदं ध्यायतां] विकल्प-रहित (राग-द्वेष से शून्य) पद को ध्यावने वाले [योगिनाम्] योगियों की [बलिं बलिं] बार-बार पूजा करता हूँ, [येषाम्] जिनके [परेण सह] अन्य पदार्थों के साथ [समरसीभावं] समरसीभाव है, और [पुण्यम् पापं अपि न] जिनके पुण्य और पाप दोनों नहीं हैं ।

समूल परिवर्तित, पुण्य-पाप से रहित धन्य

उव्वस वसिया जो करइ वसिया करइ जु सुण्णु ।

बलि किज्जउँ तसु जोइयहिँ जासु ण पाउ ण पुण्णु ॥160॥

अन्वयार्थ : [यः] जो [उद्वसान्] (शुद्धोपयोगरूप परिणामों से) ऊजडे को [वसितान्] (स्व-संवेदन ज्ञान द्वारा) बसाता है, [यः] जो [वसितान्] बसे हुए (मिथ्यात्वादि परिणाम) से [शून्यान्] रहित होता है, [तस्य योगिनः] उस योगी की [अहं बलिं कुर्वे] मैं पूजा करता हूँ, [यस्य न पापं न पुण्यम्] जिसके न तो पाप है और न पुण्य है ।

प्रभाकर भट्ट द्वारा निवेदन

तुट्टइ मोहु तडित्ति जहिँ मणु अत्थवणहँ जाइ ।

सो सामइ उवएसु कहि अण्णेँ देविं काइँ ॥161॥

अन्वयार्थ : [स्वामिन्] हे स्वामी ! [तं उपदेशं कथय] उस उपदेश को कहो [यत्र मोहः झटिति त्रुटयति] जिससे मोह शीघ्र छूट जावे, [मनः अस्तमनं याति] और चंचल मन स्थिरता को प्राप्त हो जावे, [अन्य देवेन किम्] दूसरे देवताओं से क्या प्रयोजन है ?

योग द्वारा ध्यान

णास-विणिग्गउ सासडा अंबरि जेत्थु विलाइ ।

तुट्टइ मोहु तडत्ति तहिँ मणु अत्थवणहँ जाइ ॥162॥

अन्वयार्थ : [नासाविनिर्गतः श्वासः] नाक से निकला जो श्वास वह [यत्र] जब [अंबरे] निर्विकल्पसमाधि में [विलीयते] मिल जावे, [तत्र] उसी जगह [मोहः] मोह [झटिति] शीघ्र [त्रुटयति] नष्ट हो जाता है, [मनः] और मन [अस्तं याति] स्थिर हो जाता है ।

परम-समाधि

मोहु विलिज्जइ मणु मरइ तुट्टइ सासु-णिसासु ।

केवल-णाणु वि परिणमइ अंबरि जाहँ णिवासु ॥163॥

अन्वयार्थ : [येषां] जिन (मुनिश्वरों) का [अंबरे निवासः] परमसमाधि में निवास है, उनका [मोहः विलीयते] मोह नाश को प्राप्त हो जाता है, [मनः म्रियते] मन मर जाता है, [श्वासोच्छ्वासः त्रुटयति] श्वासोच्छ्वास रुक जाता है, [अपि केवलज्ञानम् परिणमति] और केवलज्ञान उत्पन्न होता है ।

निर्विकल्प समाधि द्वारा मोह टूटता है

जो आयासइ मणु धरइ लोयालोय-पमाणु ।

तुट्टइ मोहु तडत्ति तसु पावइ परहँ पवाणु ॥164॥

अन्वयार्थ : [यः आकाशे] जो निर्विकल्प-समाधि में [मनः धरति] मन स्थिर करता है, [तस्य मोहः] उसका मोह [झटिति त्रुटयति] शीघ्र टूटता है, [परस्य प्रमाणम्] लोकालोक प्रमाण आत्मा को [प्राप्नोति] प्राप्त हो जाता है ।

प्रभाकर भट्ट द्वारा विनती

देहि वसंतु वि णवि मुणिउ अप्पा देउ अणंतु ।

अंबरि समरसि मणु धरिवि सामिय णट्ठु णिभंतु ॥165॥

अन्वयार्थ : [स्वामिन्] हे स्वामी ! [देहे वसन्नपि] देह में रहता हुआ भी [समरसे] समान भावरूप [अंबरे] निर्विकल्प-समाधि में [मनः धृत्वा] मन लगा कर [आत्मा देवः] आराधने योग्य आत्मा [अनंतः] अनंत [नैव मतः] मैंने नहीं जाना और [नष्टो निर्भ्रांतः] निस्संदेह नष्ट हुआ ।

परमार्थ मार्ग

सयल वि संग ण मिल्लिया णवि किउ उवसम-भाऊ ।

सिव-पय-मग्गु वि मुणिउ णवि जहिं जोइहिँ अणुराउ ॥166॥
घोरु ण चिण्णउ तव-चरणु जं णिय-बोहहं सारु ।
पुण्णु वि पाउ वि दड्ढु णवि किमु छिज्जइ संसारु ॥167॥
अन्वयार्थ : [सकला अपि संगाः] सब परिग्रह भी [न मुक्ताः] नहीं छोडे, [उपशमभावः नैव कृतः] समभाव भी नहीं किया [यत्र योगिनां अनुरागः] और जहाँ योगीश्वरों का प्रेम है, ऐसा [शिवपदमार्गोऽपि] मोक्ष-पद भी [नैव मतः] नहीं जाना, [घोरं तपश्चरणं] महा दुर्धर तप [न चीर्णं] नहीं किया, [यत्] जो कि [निजबोधेन सारम्] आत्मज्ञान से शोभायमान है, [पुण्यमपि पापमपि] और पुण्य तथा पाप ये दोनों [नैव दग्धं] नहीं भस्म किये, तो [संसार] संसार [किं छिद्यते] कैसे छूट सकता है ?

व्यवहार मोक्षमार्ग

दाणु ण दिण्णउ मुणिवरहँ ण वि पुज्जिउ जिण-णाहु ।
पंच ण वंदिय परम-गुरू किमु होसइं सिव-लाहु ॥168॥
अन्वयार्थ : [दानं] आहारादि दान [मुनिवराणां] मुनिश्वर आदि पात्रों को [न दत्तं] नहीं दिया, [जिननाथः] जिनेन्द्र-भगवान को भी [नापि पूजितः] नहीं पूजा, [पंच परमगुरवः] अरहंत आदिक पंच-परमेष्ठी [न वंदिताः] भी नहीं पूजे, तब [शिवलाभः] मोक्ष की प्राप्ति [किं भविष्यति] कैसे हो सकती है ?

अकेले बाह्य-योग दारा सिद्धि नहीं

अद्धुम्मीलिय-लोयणिहिँ जोउ कि झंपियएहिँ ।
एमुइ लव्भइ परम-गइ णिच्चिंतिं ठियएहिँ ॥169॥
अन्वयार्थ : [अर्धोन्मीलितलोचनाभ्यां] आधे ऊघड़े हुए नेत्रों करना अथवा [झंपिताभ्याम्] नेत्रों को बंद करना [किं] क्या [योगः] ध्यान है? [निश्चिन्तं स्थितैः] चिन्ता-रहित (एकाग्र) स्थित को [एवमेव] इसी तरह [लभ्यते परमगतिः] परमगति (मोक्ष) मिलती है ।

चिंता-मुक्त हुए बिना संसार भरमान नहीं छूटता

जोइय मिल्लहि चिन्त जइ तो तुट्टइ संसारु ।
चिंतासत्तउ जिणवरु वि लहइ ण हंसाचारु ॥170॥
अन्वयार्थ : [योगिन्] हे योगी ! [यदि] जो [चिंतां मुंचसि] चिन्ताओं को छोड़े [ततः] तो [संसारः] संसार का भ्रमण [त्रुटयति] छूट जायेगा; [चिंतासक्तः] चिन्ता में लगे हुए [जिनवरोऽपि] (छद्मस्थ अवस्थावाले) जिनदेव भी [हंसाचारम् न लभते] परमात्मा के आचरणरूप शुद्ध-भावों को नहीं पाते ।

मन को मारकर परब्रह्म का ध्यान करो

जोइय दुम्मइ कवुण तुहुँ भवकारणि ववहारि ।
बंभु पवंचहिँ जो रहिउ सो जाणिवि मणु मारि ॥171॥
अन्वयार्थ : [योगिन्] हे योगी ! [तव का दुर्मतिः] तेरी क्या खोटी बुद्धि है, जो तू [भवकारणे व्यवहारे] संसार के कारण उद्यमरूप व्यवहार करता है; अब तू [प्रपंचैः रहितं] (माया-जालरूप) पाखंडों से रहित [यत् ब्रह्म] जो शुद्धात्मा है, [तत् ज्ञात्वा] उसको जानकर [मनो मारय] (विकल्प-जालरूपी) मन को मार ।

सब विषयों को छोड़कर आत्मदेव को ध्यावो

सव्वहिँ रायहिँ छहिँ रसहिँ पंचहिँ रूवहिँ जंतु ।
चित्तु णिवारिवि झाहि तुहुँ अप्पा देउ अणंतु ॥172॥
अन्वयार्थ : [त्वं सर्वैः रागैः] तू सब शुभाशुभ राग से, [षड्भिःरसैः] छहों रस से, [पंचभिः रसैः] पाँचों रस से [गच्छत् चित्तं] चलायमान चित्त

को [निवार्य] रोककर [अनंतम्] अनंतगुणवाले [आत्मानं देवम् ध्याय] आत्मदेव का चिंतवन कर ।

आत्मा को जिसरूप से ध्यावो, उसी-रूप परिणमता है

जेण सरूविं झाइयइ अप्पा एहु अणंतु ।

तेण सरूविं परिणवइ जह फलिहउ-मणि मंतु ॥173॥

अन्वयार्थ : [एषः] यह प्रत्यक्षरूप [अनंतः] अविनाशी [आत्मा] आत्मा [येनस्वरूपेण] जिस स्वरूप से [ध्यायते] ध्याया जाता है, [तेन स्वरूपेण] उसी स्वरूप [परिणमति] परिणमता है, [यथा स्फ टिकमणिः मंत्रः] जैसे स्फटिकमणि और गारुड़ी आदि मंत्र हैं ।

आत्मा परमात्मा कैसे बनता है?

एहु जु अप्पा सो परमप्पा कम्म-विसेसँ जायउ जप्पा ।

जामइँ जाणइ अप्पें अप्पा तामइँ सो जि देउ परमप्पा ॥174॥

अन्वयार्थ : [एष यः आत्मा] यह जो आत्मा है [स परमात्मा] वही परमात्मा है, [कर्मविशेषेण] अनादि कर्म-बंध के विशेष से [जाप्यः जातः] पराधीन हुआ दूसरे का जाप करता है; परंतु [यदा] जब [आत्मना] आत्मा से [आत्मानं] अपने को [जानाति] जानता है, [तदा] तब [स एव] वह ही [परमात्मा] परमात्मा है ।

मैं ही परमात्मा

जो परमप्पा णाणमउ सो हउँ देउ अणंतु ।

जो हउँ सो परमप्पु परु एहउ भावि णिभंतु ॥175॥

अन्वयार्थ : [यः परमात्मा] जो परमात्मा [ज्ञानमयः] ज्ञानस्वरूप है, [स अहं] वह मैं हूँ, [अनंत देवः] अविनाशी देव-स्वरूप हूँ, [य अहं] जो मैं हूँ [स परः परमात्मा] वही उत्कृष्ट परमात्मा है [इत्थं निर्भ्रांतः भावय] इसप्रकार निस्संदेह भावना कर ।

कर्म-स्वभाव आत्म-स्वभाव से भिन्न

णिम्मल-फलिहहँ जेम जिय भिण्णउ परकिय-भाउ ।

अप्प-सहावहँ तेम मुणि सयलु वि कम्म-सहाउ ॥176॥

अन्वयार्थ : [जीव] हे जीव ! [यथा परकृतभावः] जैसे (नीला-पीला आदि) पर-कृत रंग [निर्मलस्फटिकात्] महा निर्मल स्फटिक-मणि से [भिन्नः] जुदे हैं, [तथा] उसी तरह [आत्मस्वभावात्] आत्म-स्वभाव और [सकलमपि] सब ही [कर्मस्वभावम्] (शुभाशुभ) कर्म-स्वभाव को [मन्यस्व] जानो ।

आत्मा को निर्मल देख

जेम सहाविं णिम्मलउ फलिहउ तेम सहाउ ।

भंतिए मइलु म मण्णि जिय मइलउ देक्खवि काउ ॥177॥

अन्वयार्थ : [यथा] जैसे [स्फटिकः] स्फटिक-मणि [स्वभावेन] स्वभाव से [निर्मलः] निर्मल है, [तथा] उसी तरह [स्वभावः] (आत्मा का ज्ञान दर्शनरूप) स्वभाव है [जीव] हे जीव ! [कायम् मलिनं] शरीर को मलिन [दृष्ट्वा] देखकर [भ्रांत्या] भ्रम से (स्वभाव को) [मलिनं] मैला [मा मन्यस्व] मत मान ।

भेदविज्ञान की भावना का रक्त पीतादि वस्त्र द्वारा दृष्टांत

रत्तेँ वत्थेँ जेम बुहु देहु ण मण्णइरत्तु ।

देहिं रत्तिं णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ रत्तु ॥178॥

जिण्णिं वत्थिं जेम बुहु देहु ण मण्णइ जिण्णु ।

देहिं जिण्णिं णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ जिण्णु ॥179॥
वत्थु पणट्ठइ जेम बुहु देहु ण मण्णइ णट्ठु ।
णट्ठे देहे णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ णट्ठु ॥180॥
भिण्णउ वत्थु जि जेम जिय देहहँ मण्णइ णाणि ।
देहु वि भिण्णउँ णाणि तहँ अप्पहँ मण्णइ जाणि ॥181॥

अन्वयार्थ : [यथा बुधः] जैसे कोई बुद्धिमान् पुरुष [रक्ते वस्त्रे] लाल वस्त्र से [देहं रक्तम्] शरीर को लाल [न मन्यते] नहीं मानता, [तथा] उसी तरह [ज्ञानी] सम्यग्ज्ञानी [देह रक्ते] शरीर के लाल होने से [आत्मानं] आत्मा को [रक्तम् न मन्यते] लाल नहीं मानता । [यथा बुधः] जैसे कोई बुद्धिमान् [वस्त्रे जीर्णे] कपड़े के जीर्ण (पुराने) होने पर [देहं जीर्णम्] शरीर को जीर्ण [न मन्यते] नहीं मानता, [तथा ज्ञानी] उसी तरह ज्ञानी [देहे जीर्णे] शरीर के जीर्ण होने से [आत्मानं जीर्णम् न मन्यते] आत्मा को जीर्ण नहीं मानता, [यथा बुधः] जैसे कोई बुद्धिमान् [वस्त्रे प्रणष्टे] वस्त्र के नाश होने से [देहं नष्टम्] देह का नाश [न मन्यते] नहीं मानता, [तथा ज्ञानी] उसी तरह ज्ञानी [देहे नष्टे] देह का नाश होने से [आत्मानं] आत्मा का [नष्टम् न मन्यते] नाश नहीं मानता, [जीव] हे जीव ! [यथा ज्ञानी] जैसे ज्ञानी [देहाद् भिन्नं एव] देह से भिन्न ही [वस्त्रम् मन्यते] कपड़े को मानता है, [तथा ज्ञानी] उसी तरह ज्ञानी [देहमपि] शरीर को भी [आत्मनः भिन्नं] आत्मा से जुदा [मन्यते] मानता है, ऐसा [जानीहि] तुम जानो ।

शरीर को शत्रु की तरह देख

इहु तणु जीवड तुज्झ रिउ दुक्खइँ जेण जणेइ ।
सो परु जाणहि मित्तु तुहुँ जो तणु एहु हणेइ ॥182॥

अन्वयार्थ : [जीव] हे जीव ! [इयं तनुः] यह शरीर [तव रिपुः] तेरा शत्रु है, [येन] क्योंकि [दुःखानि] दुःखों को [जनयति] उत्पन्न करता है, [यः] जो [इमां तनुं] इस शरीर का [हंति] घात करे, [तं] उसको [त्वं] तुम [परं मित्रं] परम-मित्र [जानीहि] जानो ।

दुःख में भी सकारात्मकता

उदयहँ आणिवि कम्मु मइँ जं भुंजेवउ होइ ।
तं सह आविउ खविउ मइँ सो पर लाहु जि कोइ ॥183॥

अन्वयार्थ : [यत् मया] जो मैं [कर्म उदयम् आनीय] कर्म को उदय में लाकर [भोक्तव्यं भवति] भोगना चाहता था, [तत्] वह कर्म [स्वयम् आगतं] आप ही आ गया, [मया क्षपितं] इससे मैं शांत चित्त से फल सहनकर क्षय करूँ, [स कश्चित्] यह कोई [परं लाभः] महान् ही लाभ हुआ ।

विपरीत परिस्थितियों में आत्म-तत्त्व की भावना

णिट्ठुर-वयणु सुणेवि जिय जइ मणि सहण ण जाइ ।
तो लहु भावहि बंभु परु जिं मणु झत्ति विलाइ ॥184॥

अन्वयार्थ : [जीव] हे जीव ! [निष्ठुरवचनं श्रुत्वा] कठोर वचन सुनकर [यदि] जो [न सोढुं याति] न सह सके, [ततः] तो [परं ब्रह्म] (परमानंदस्वरूप इस देह में विराजमान) परमब्रह्म का [मनसि] मन में [लघु] शीघ्र [भावय] ध्यान करो [येन] जिससे [मनः झटिति] मन शीघ्र ही [विलीयते] विलीन हो जाता है ।

कर्म-बंध नहीं करे, आत्म-स्वरूप में लगे

लोउ विलक्खणु कम्म-वसु इत्थु भवंतरि एइ ।
चुज्जु कि जइ इहु अप्पि ठिउ इत्थु जि भवि ण पडेइ ॥185॥

अन्वयार्थ : [लोकः विलक्षणः] लोक से भिन्न [कर्मवशः] कर्म के वश [अत्र भवांतरे आयाति] इस संसार में अनेक जाति धारण करता है, [अयं यदि] जो यह (जीव) [आत्मनि स्थितः] आत्म-स्वरूप में लगे, तो [अत्रैव भवे] इसी भव में [न पतति] नहीं पड़े (भ्रमण नहीं करे) [किं

आश्चर्यं] इसमें क्या आश्चर्य है ?

कोई दोष ग्रहण करे तो क्षमाभाव रखे

अवगुण-गहणइँ महुतणइँ जइ जीवहँ संतोसु ।

तो तहँ सोक्खहं हेउ हउँ इउ मण्णिवि चइ रोसु ॥186॥

अन्वयार्थ : [मदीयेन अवगुणग्रहणेन] मेरे दोष ग्रहण करके [यदि जीवानां संतोषः] यदि जीवों को हर्ष होता है, [ततः] तो मुझे यही लाभ है, कि [अहं] मैं [तेषां सुखस्य हेतुः] उनको सुख का कारण हुआ, [इति मत्वा] ऐसा मन में विचारकर [रोषम् त्यज] गुस्सा छोड़ो ।

सब चिंताओं का निषेध

जोइय चिंति म किं पि तुहुँ जइ बीहउ दुक्खस्स ।

तिल-तुस-मित्तु वि सल्लडा वेयण करइ अवस्स ॥187॥

अन्वयार्थ : [योगिन्] हे योगी ! [किमपि मा चिंतय] कुछ भी चिंता मत कर [त्वं यदि] यदि तू [दुःखस्य] दुःख से [भीतः] डरकर [तिलतुषमात्रमपि शल्यं] तिल के भूसे मात्र शल्य भी [वेदनां] मनको वेदना [अवश्यम् करोति] निश्चयसे करती है ।

मोक्ष की भी चिन्ता नहीं करे

मोक्खु म चिंतहि जोइया मोक्खु ण चिंतिउ होइ ।

जेण णिबद्धउ जीवडउ मोक्खु करेसइ सोइ ॥188॥

अन्वयार्थ : [योगिन्] हे योगी ! [मोक्षं माचिंतय] मोक्ष की भी चिन्ता मत कर, [मोक्षः] मोक्ष [चिंतितो न भवति] चिन्ता करने से नहीं होता, [येन निबद्धः] जिन (कर्मों) ने बाँधा है [जीवः] जीव को [तदेव] वे कर्म ही [मोक्षं] मोक्ष (मुक्त) [करिष्यति] करेंगे ।

परमसमाधि द्वारा कर्मों से छूटना होता है

परम-समाहि-महा-सरहिँ जे बुड्डहिँ पइसेवि ।

अप्पा थक्कइ विमलु तहँ भव-मल जंति वहेवि ॥189॥

अन्वयार्थ : [ये] जो कोई महान पुरुष [परमसमाधिमहासरसि] परम-समाधिरूप सरोवर में [प्रविश्य] घुसकर [मज्जन्ति] मग्न होते हैं, [आत्मा तिष्ठति] आत्मा में स्थिर होते हैं [विमलः] द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित, [तेषां] उन्हीं पुरुषों के [भवमलानि] अशुद्ध भाव के कारण जो कर्म हैं, वे सब [ऊढ्वा / बहित्वा यांति] (शुद्धात्म परिणामरूप जल के प्रवाह में) बह जाते हैं ।

शुभ-अशुभ विकल्पों का नाश ही परम-समाधि

सयल-वियप्पहँ जो विलउ परम-समाहि भणंति ।

तेण सुहासुह-भावडा मुणि सयल वि मेल्लंति ॥190॥

अन्वयार्थ : [यः] जो [सकलविकल्पानां] समस्त विकल्पों का [विलयः] नाश है, उसको [परमसमाधिं भणंति] परमसमाधि कहते हैं, [तेन] इस (परमसमाधि) से [मुनयः] मुनिराज [सकलानपि] सभी [शुभाशुभविकल्पान्] शुभ-अशुभ विकल्पों को [मुंचंति] छोड़ देते हैं ॥१९०॥

समभाव बिना ज्ञान और तप व्यर्थ

घोरु करंतु वि तव-चरणु सयल वि सत्थ मुणंतु ।

परम-समाहि-विवज्जयउ णवि देक्खइ सिउ संतु ॥191॥

अन्वयार्थ : [घोरं तपश्चरणं कुर्वन् अपि] महा दुर्धर तपश्चरण करता हुआ भी और [सकलानि शास्त्राणि] सब शास्त्रों को [जानन्] जानता हुआ भी [परमसमाधिविवर्जितः] जो परम-समाधि से रहित है, वह [शांतम् शिवं] शांतरूप शुद्धात्मा को [नैव पश्यति] नहीं देख सकता ।

विषय-कषाय रहित परम-समाधि

विषय-कसाय वि णिद्दलिवि जे ण समाहि करंति ।

ते परमप्पहँ जोइया णवि आराहय होंति ॥192॥

अन्वयार्थ : [ये] जो [विषयकषायानपि] विषय कषायों को [निर्दल्य] मूल से उखाड़कर [समाधिं] (तीन गुप्तिरूप) परमसमाधि को [न कुर्वंति] नहीं धारण करते, [ते] वे [योगिन्] हे योगी, [परमात्माराधकाः] परमात्मा के आराधक [नैव भवंति] नहीं हैं ।

मात्र बाह्य समाधि से कार्य की सिद्धि नहीं

परम-समाहि धरेवि मुणि जे परबंभु ण जंति ।

ते भव-दुक्खइँ बहुविहइँ कालु अणंतु सहंति ॥193॥

अन्वयार्थ : [ये मुनयः] जो कोई मुनि [परमसमाधिं] परम-समाधि को [धृत्वापि] धारण करके भी [परब्रह्म] (केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप) निज आत्मा को [न यांति] नहीं जानते हैं, [ते] वे (शुद्धात्म-भावना से रहित पुरुष) [बहुविधानि] अनेक प्रकार के [भवदुःखानि] (नारकादि) भवदुःख आधि व्याधिरूप [अनंतं कालं] अनंतकाल तक [सहंते] भोगते हैं ।

चित्त से विकल्पों का हटना ही परमसमाधि

जामु सुहासुह-भावडा णवि सयल वि तुट्टंति ।

परमसमाहि ण तामुमणि केवलि एहु भणंति ॥194॥

अन्वयार्थ : [यावत्] जब तक [सकला अपि] समस्त ही [शुभाशुभभावाः] शुभाशुभ परिणाम [नैव त्रुटयंति] दूर न हों, [तावत्] तब तक [मनसि] चित्त में [परमसमाधिःन] परमसमाधि नहीं हो सकती [एवं] ऐसा [केवलिनः] केवली-भगवान् [भणंति] कहते हैं ।

परम-समाधि में लीनता से केवलज्ञान

सयलवियप्पहँ तुट्टाहँ सिवपयमग्गि वसंतु ।

कम्म-चउक्कइ विलउ गइ अप्पा हुइ अरहंतु ॥195॥

अन्वयार्थ : [कर्मचतुष्के विलयं गते] (ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, और अन्तराय) चार घातिया कर्मों के नाश होने से [आत्मा] यह जीव [अर्हन् भवति] अर्हंत होता है, [शिवपदमार्गे वसन्] मोक्षपद के मार्गरूप (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र) में ठहरता हुआ [सकलविकल्पानां] समस्त रागादि विकल्पों का [त्रुटयतां] नाश करता है ।

केवलज्ञान की महिमा

केवलणाणिं अणवरउ लोयालोउ मुणंतु ।

णियमेँ परमाणंदमउ अप्पा हुइ अरहंतु ॥196॥

अन्वयार्थ : [केवलज्ञानेन] केवलज्ञान से [लोकालोकं] लोक-अलोक को [अनवरतं जानन्] निरन्तर जानता हुआ [नियमेन] निश्चय से [परमानंदमयः आत्मा] परम आनंदमयी यह आत्मा [अर्हन् भवति] अरहंत होता है ।

केवलज्ञान ही आत्मा का स्वभाव

जो जिणु केवलणाणमउ परमाणंदसहाउ ।

सो परमप्पउ परमपरु सो जिय अप्पसहाउ ॥197॥

अन्वयार्थ : [यः जिनः] जो जिन [केवलज्ञानमयः] केवलज्ञानादि अनंत गुणमयी है [परमानंदस्वभावः] और परमानंद ही जिसका स्वभाव है, [सः परमात्मा] वही परमात्मा है; [जीव] हे जीव, वही [परमपरः] संसारियों में उत्कृष्ट है [स आत्मस्वभावः] वह आत्मा का ही स्वभाव है ।

कर्मों और दोषों से रहित ही परमात्म-प्रकाश

सयलहँ कम्महँ दोसहँ वि जो जिणु देउ विभिण्णु ।
सो परमप्प-पयासु तुहुँ जोइय णियमेँ मण्णु ॥198॥

अन्वयार्थ : [सकलेभ्यः कर्मभ्यः] ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों से [दोषेभ्यः अपि विभिन्नः] और (सब क्षुधादि अठारह) दोषों से रहित [यः जिनदेवः] जो जिनेश्वरदेव हैं, [तं योगिन् त्वं] उसको हे योगी, तू [परमात्मप्रकाशं] परमात्मप्रकाश [नियमेन] निश्चयसे [मन्यस्व] मान ।

अनंतचतुष्टयमयी परमप्रकाश है

केवल-दंसणु णाणु सुहु वीरिउ जो जि अणंतु ।
सो जिणदेउ वि परममुणि परमपयासु मुणंतु ॥199॥

अन्वयार्थ : [केवलदर्शनं ज्ञानं सुखं वीर्यं] केवलदर्शन, केवलज्ञान, अनंतसुख, अनंतवीर्य [यदेव अनंतम्] ये अनंतचतुष्टय जिसके हों [स जिनदेवः] वही जिनदेव है, [परममुनिः] वही परममुनि [परमप्रकाशं जानन्] (उत्कृष्ट लोकालोक का प्रकाशक केवलज्ञान धारी) परमप्रकाश है ।

जिनदेव के ही अनेक नाम

जो परमप्पउ परमपउ हरि हरु बंभु वि बुद्धु ।
परम पयासु भणंति मुणि सो जिणदेउ विसुद्धु ॥200॥

अन्वयार्थ : [यः परमात्मा] जिस परमात्मा को [मुनयः] मुनि, [परमपदः] परमपद, [हरिः हरः ब्रह्मा अपि] हरि, महादेव, ब्रह्मा, [बुद्धः परमप्रकाशः भणंति] बुद्ध और परमप्रकाश नाम से कहते हैं, [सः विशुद्धः जिनदेवः] वह (रागादि-रहित) शुद्ध जिनदेव ही है ।

सिद्ध भगवान

झाणेँ कम्मक्खउ करिवि मुक्कउ होइ अणंतु ।
जिणवरदेवइँ सो जि जिय पभणिउ सिद्ध महंतु ॥201॥

अन्वयार्थ : [ध्यानेन कर्मक्षयं कृत्वा] ध्यान द्वारा कर्मों का क्षय करके [मुक्तः भवति] जो मुक्त होता है, [अनंतः] और अविनाशी है, [जीव] हे जीव ! [स एव] उसे ही [जिनवरदेवेन] जिनवरदेव ने [महान् सिद्धः प्रभणितः] सबसे महान् सिद्ध भगवान् कहा है ।

सिद्धों की महिमा

अण्णु वि बंधु वि तिहुयणहँ सासय-सुक्ख-सहाउ ।
तित्थु जि सयलु वि कालु जिय णिवसइ लद्ध-सहाउ ॥202॥

अन्वयार्थ : [अन्यदपि] फिर वे सिद्ध-भगवान् [त्रिभुवनस्य] तीन लोक के प्राणियों का [बंधुरपि] हित करनेवाले हैं, [शाश्वतसुखस्वभावः] और जिनका स्वभाव अविनाशी सुख है, और [तत्रैव] उसी शुद्ध क्षेत्र में [लब्धस्वभावः] निज-स्वभाव को पाकर [जीव] हे जीव ! [सकलमपि कालं] सदा काल [निवसति] निवास करते हैं ।

सिद्धों का स्वरूप

जम्मण-मरण-विवज्जियउ चउ-गइ-दुक्ख विमुक्कु ।
केवल-दंसण-णाणमउ णंदइ तित्थु जि मुक्कु ॥203॥

अन्वयार्थ : [जन्ममरणविवर्जितः] (वे भगवान् सिद्ध-परमेष्ठी) जन्म-मरण से रहित, [चतुर्गतिदुःखविमुक्तः] चारों गतियों के दुःखों से रहित, [केवलदर्शनज्ञानमयः] और केवलदर्शन केवलज्ञानमयी, [मुक्तः] कर्म रहित हुए [तत्रैव] (अनंतकाल तक) उसी (सिद्ध-क्षेत्र) में [नंदति] (अपने स्वभाव में) आनंदरूप विराजते हैं ।

परमात्मप्रकाश की भावना में लीनता का फल

जे परमप्प-पयासु मुणि भाविं भावहिँ सत्थु ।

मोहु जिणेविणु सयलु जिय ते बुज्झहिँ परमत्थु ॥204॥

अन्वयार्थ : [ये मुनयः] जो मुनि [भावेन] भावों से [परमात्मप्रकाशं शास्त्रम्] इस परमात्मप्रकाश शास्त्र का [भावयंति] चिंतवन (अभ्यास) करते हैं, [जीव] हे जीव ! [ते सकलं मोहं जित्वा] वे समस्त मोह को जीतकर [परमार्थम् बुध्यंति] परमतत्त्व को जानते हैं ।

परमात्मप्रकाश के अभ्यास का फल

अण्णु वि भत्तिए जे मुणहिँ इहु परमप्प-पयासु ।

लोयालोय-पयासयरु पावहिँ ते वि पयासु ॥205॥

अन्वयार्थ : [अन्यदपि] और भी कहते हैं, [ये भक्त्या] जो भक्ति से [इमं परमात्मप्रकाशम्] इस परमात्मप्रकाश शास्त्र को [जानन्ति] पढ़ें, सुनें, इसका अर्थ जानें, [तेऽपि] वे भी [लोकालोकप्रकाशकरं] लोकालोक को प्रकाशनेवाले [प्रकाशम्] केवलज्ञान तथा उसके आधारभूत परमात्म-तत्त्व को शीघ्र ही पा सकेंगे ।

परमात्मप्रकाश के पढ़ने का फल

जे परमप्प-पयासयहं अणुदिणु णाउ लयंति ।

तुट्टइ मोहु तडत्ति तहँ तिहुयण-णाह हवंति ॥206॥

अन्वयार्थ : [ये] जो [परमात्मप्रकाशकस्य] परमात्मा के प्रकाश करनेवाले इस ग्रंथ का [अनुदिनं] सदैव [नामं गृह्णन्ति] नाम लेते (स्मरण करते) हैं,

[तेषां] उनका [मोहः] मोह [झटिति त्रुटयति] शीघ्र ही टूट जाता है, और वे [त्रिभुवननाथा भवंति] तीन भुवनके नाथ होते हैं ।

परमात्मप्रकाश ग्रंथ के योग्य कौन?

जे भव-दुक्खहँ बीहिया पउ इच्छहिँ णिव्वाणु ।

इह परमप्प-पयासयहँ ते पर जोग्ग वियाणु ॥207॥

अन्वयार्थ : [ते परं] वे ही महापुरुष [अस्य परमात्मप्रकाशकस्य] इस परमात्मप्रकाश ग्रंथ के [योग्याः विजानीहि] योग्य जानो, [ये] जो [भवदुःखेभ्यः] संसार के दुःखों से [भीताः] डर गये हैं, और [निर्वाणम् पदं] मोक्ष-पद को [इच्छंति] चाहते हैं ।

और भी

जे परमप्पहँ भत्तियर विसय ण जे वि रमंति ।

ते परमप्प-पयासयहँ मुणिवर जोग्ग हवंति ॥208॥

अन्वयार्थ : [ये] जो [परमात्मनः भक्तिपराः] परमात्मा की भक्ति करते हैं, [ये] जो [विषयान् न अपि रमंते] विषय-कषायों में नहीं रमते हैं, [ते मुनिवराः] वे ही मुनीश्वर [परमात्मप्रकाशस्य योग्याः] परमात्मप्रकाश के योग्य [भवंति] हैं ।

और भी

णाण-वियक्खणु सुद्ध-मणु जो जणु एहउ कोइ ।

सो परमप्प-पयासयहँ जोग्गु भणंति जि जोइ ॥209॥

अन्वयार्थ : [यः जनः] जो प्राणी [ज्ञानविचक्षणः] स्वसंवेदन-ज्ञान द्वारा विचक्षण (बुद्धिमान) हैं, और [शुद्धमनाः] (राग द्वेष मोहरूप समस्त विकल्प-जाल के त्याग से) शुद्ध-मन हैं, [कश्चिदपि ईदृशः] ऐसा कोई भी सत्पुरुष हो, [तं] उसे [ये योगिनः] जो योगीश्वर हैं, वे [परमात्मप्रकाशकस्य योग्यं] परमात्मप्रकाश के योग्य [भणंते] कहते हैं ।

शास्त्र का फल

लक्खण-छंद-विवज्जियउ एहु परमप्प-पयासु ।
कुणइ सुहावइँ भावियउ चउ-गइ-दुक्ख-विणासु ॥210॥

अन्वयार्थ : [लक्षणछंदोविवर्जितः] दोहा-छंदो और लक्षणों से रहित, [चतुर्गतिदुःखविनाशम्] चारों गति के दुखों का विनाश हेतु, [सुभावेन भावितः] शुद्धभावों को भाकर [एष परमात्मप्रकाशः करोति] यह परमात्मप्रकाश को किया (रचा / लिखा) है ।

उद्धतपने का त्याग

इत्थु ण लेवउ पंडियहिँ गुण-दोसु वि पुणरुत्तु ।
भट्ट-पभायर-कारणइँ मइँ पुणु पुणु वि पउत्तु ॥211॥

अन्वयार्थ : [यत्र] इस (ग्रंथ) में [पुनरुक्तः] पुनरुक्ति का [गुणो दोषोऽपि] गुण-दोष भी [पंडितैः न ग्राह्यः] पंडितजन ग्रहण नहीं करें, [मया] मैंने [भट्टप्रभाकरकारणेन] प्रभाकरभट्ट के संबोधनके लिए [पुनः पुनरपि प्रोक्तम्] कथन बार-बार किया है ।

ग्रन्थकर्ता द्वारा क्षमायाचना

जं मइँ किं पि विजंपियउ जुत्ताजुत्तु वि इत्थु ।
तं वर-णाणि खमंतु महु जे बुज्झहिँ परमत्थु ॥212॥

अन्वयार्थ : [अत्र यत् मया] इस (ग्रंथ) में जो मैंने [किमपि] कुछ भी [युक्तायुक्तमपि विजल्पितं] युक्त अथवा अयुक्त शब्द कहा हो, तो [तत् ये वरज्ञानिनः] उसे जो महान् ज्ञानके धारक [परमार्थम् बुध्यंते] परमार्थ को जानने वाले, [मम क्षाम्यंतु] मुझे क्षमा करें ।

ग्रंथ के पढ़ने का फल

जं तत्तं णाण-रूवं परम-मुणि-गणा णिच्च झायंति चित्ते
जं तत्तं देह-चत्तं णिवसइ भुवणे सव्व-देहीण देहे ।
जं तत्तं दिव्व-देहं तिहुविण-गुरुगं सिज्झए संतजीवे ।
जं तत्तं जस्स सुद्धं फुरइ णियमणे पावए सो हि सिद्धिं ॥213॥

अन्वयार्थ : [तत्] वह [तत्त्वं] निज आत्म-तत्त्व [यस्य निजमनसि] जिसके मन में [स्फुरति] प्रकाशता है, [स हि] वह ही (साधु) [सिद्धिम् प्राप्नोति] सिद्धि को पाता है । जो कि [शुद्धं] रागादि मल-रहित, [ज्ञानरूपं] और ज्ञानरूप है, जिसको [परममुनिगणाः] परममुनीश्वर [नित्यं] सदा [चित्ते ध्यायंति] अपने चित्त में ध्याते हैं, [यत् तत्त्वं] जो तत्त्व [भुवने] इस लोक में [सर्वदेहिनां देहे] सब प्राणियों के शरीर में [निवसति] मौजूद है, [देहत्यक्तं] और आप देह से रहित है, [यत् तत्त्वं] जो तत्त्व [दिव्यदेहं] (केवलज्ञान और आनदरूप) अनुपम देह को धारण करता है, [त्रिभुवनगुरुकं] तीन भुवन में श्रेष्ठ है, [शांतजीवे सिध्यति] शांत-परिणामी संत-पुरुष जिसे साधते हैं ।

अन्त-मंगल

परम-पय-गयाणं भासओ दिव्व-काओ
मणसि मुणिवराणं मुक्खदो दिव्व-जोओ
विसय-सुह-रयाणं दुल्लहो जो हु लोए
जयउ सिव-सरूवो केवलो को वि बोहो ॥214॥

अन्वयार्थ : [दिव्यकायः] दिव्य (ज्ञान आनंदरूप) शरीरी, [परमपदगतानां भासकः] परम-पद-प्राप्त के उपासक [जयतु] जयवंत हो । [मुनिवराणां] महामुनि के [मनसि] मन में [दिव्ययोगः] वीतराग निर्विकल्प-समाधिरूप योग [मोक्षदः] मोक्ष का देनेवाला है; [केवलः कोऽपि बोधः] जिसका केवलज्ञान स्वभाव है, ऐसी अपूर्व ज्ञानज्योति [शिवस्वरूपः] सदा कल्याणरूप है; [लोके] लोक में [विषयसुखरतानां] इन्द्रियों के विषय में आसक्त को [यः हि] जो (परमात्म-तत्त्व) [दुर्लभः] महा दुर्लभ है ।